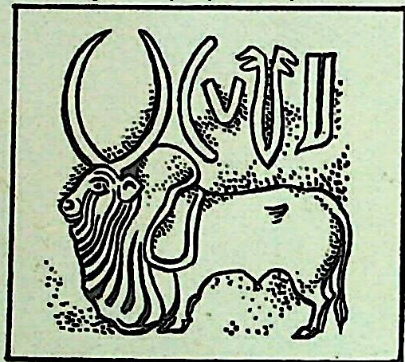


12·3

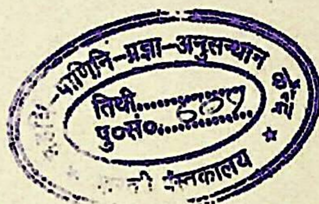
हिन्दी भाषा और नागरी लिपि

डॉ॰ कन्हैया सिंह



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि



डॉ० कन्हैया सिंह



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी



तृतीय संस्करण : १९७८ ई०

मूल्य : तीन रुपया

प्रकाशक : विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–२२१००१

मुद्रक : स्वस्तिक मुद्रणालय, गोलघर, वाराणसी–२२१००१

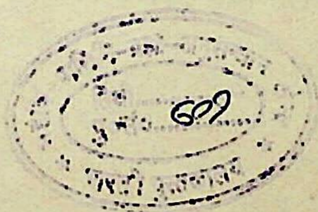
दो शब्द

इस पुस्तक का तीसरा संस्करण होने जा रहा है, यह मेरे लिए संतोष का विषय है। इसे विद्यार्थियों और अध्यापकों ने पसंद किया और विश्वविद्यालयों ने अपने बी० ए० के पाठ्यक्रम में स्थान दिया, इससे भाषा पर कुछ और कार्य करने का मुझे उत्साह मिला है।

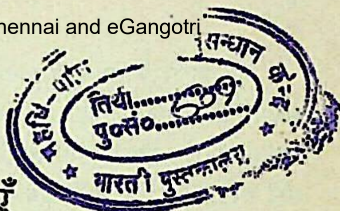
इस संस्करण में डॉ० खेमराज पाण्डेय और श्री प्रभुनाथ सिंह 'मयंक' ने जो सहयोग किया, उसके लिए इनका आभारी हूँ। प्रकाशन के लिए श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

मकरसंक्रान्ति सं० २०३४

कन्हैया सिंह



अनुक्रम



अध्याय १

संसार की भाषाएँ

भाषा—भाषा मनुष्य के भावों और विचारों को व्यक्त करने का एक माध्यम है। व्यापक अर्थ में हम किसी भी प्रकार से, भाव और विचार को व्यक्त करने की प्रणाली को भाषा कह सकते हैं। इस अर्थ में पशु-पक्षियों की बोली को भी उनकी भाषा कह दिया जाता है। मनुष्य ने भी कदाचित् भाषिक विकास के प्रथम चरण में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया होगा। इस व्यापक परिवेश में मनुष्य के संकेत भी भाषा के अन्तर्गत आ सकते हैं। जब हम किसी को हाथ के संकेत से निकट बुलाते हैं, आने से मना करते हैं, सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति व्यक्त करते हैं अथवा आँखों की भंगिमा से बहुत कुछ कह डालते हैं तो हम एक प्रकार की सांकेतिक भाषा का ही प्रयोग करते हैं। इसी व्यापक अर्थ में 'खग जाने खग ही की भाषा' अथवा 'कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात। भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात' आदि प्रयोग सार्थक हैं।

वस्तुतः उपर्युक्त परिभाषा में अतिव्याप्ति है। अतः यह कहना पड़ेगा कि भाव और विचार को व्यक्त करने के सभी माध्यम भाषा नहीं हैं। भाव और विचार की अभिव्यक्ति तो संकेतों की ही भाँति चित्रों, मूर्तियों, वाद्यों तथा नृत्य आदि से भी की जा सकती है, पर सबको भाषा नहीं कहा जा सकता। अतः भाषा-विज्ञान की परिधि में इन सबको भाषा की परिभाषा में नहीं ग्रहण किया जाता। भाषा-विज्ञान में मनुष्य द्वारा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त ध्वनि-समूहों के संयोजन को ही भाषा कहते हैं। भाषा-विज्ञान में मनुष्य की वाचिक भाषा का ही मुख्यतः अध्ययन होता है क्योंकि यही भाषा का प्रकृत रूप है। बालक जन्म से ही अनुकरण द्वारा ध्वनि-समूहों के माध्यम से वाचिक भाषा सीख लेता है पर लिखित भाषा को वह बड़े प्रयास से सीखता है। भाषा का विकास भी उच्चारण के माध्यम से ही होता है, उसका लिखित रूप तो उच्चरित रूप का अनुवर्ती मात्र होता है।

इस प्रकार भाषा में तीन बातें प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं। पहला ध्वनि-संकेतों का संघात जिससे शब्द और पद बनते हैं, दूसरा उन शब्दों का रूढ़ अर्थों में प्रयोग और तीसरा उन शब्दों का वाक्य में नियमन करने वाला व्याकरण। मोटे तौर पर भाषा के दो प्रधान तत्व कहे जा सकते हैं—(१) शब्द समूह और (२) व्याकरण। व्याकरण के अन्तर्गत चार प्रमुख बातें आती हैं—ध्वनि, पद, अर्थ और वाक्य। अतः इन्हीं पाँच क्षेत्रों के अध्ययन वैशिष्ट्य से भाषाविज्ञान की पाँच शाखायें होती हैं—(१) ध्वनि विज्ञान (२) पद विज्ञान (३) अर्थ विज्ञान (४) वाक्य विज्ञान (५) शब्द विज्ञान।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण—संसार में बोली जाने वाली भाषाओं की निश्चित संख्या बताना बड़ा कठिन है। भाषाविदों ने अनुमानतः इनकी संख्या लगभग ३००० मानी है। कुछ भाषाएँ पूर्व काल में थीं पर आज दुनिया में उनके चिह्न भी नहीं मिलते हैं। इनकी संख्या बहुत है। वर्तमान भाषाओं की अनेक बोलियाँ भी हैं। इस प्रकार संसार की भाषाओं और बोलियों की संख्या अगणित है।

भाषावैज्ञानिकों ने संसार की भाषाओं का वर्गीकरण मुख्यतः दो प्रकार से किया है—

१. आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological Classification)
२. पारिवारिक वर्गीकरण (Genealogical Classification)

आकृतिमूलक वर्गीकरण

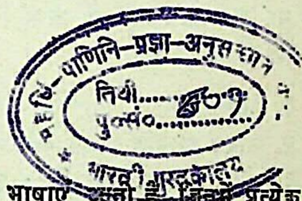
आकृतिमूलक वर्गीकरण को रूपात्मक, रचनात्मक अथवा पदात्मक वर्गीकरण भी कहा जाता है। इसमें इस बात को ध्यान में रखकर विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है कि उनके पदों की रचना के नियमों में कितनी समानता है। शब्दों का प्रयोग जब वाक्य में होता है तो उन्हें 'पद' कहते हैं। पद' अपने अर्थ की अभिव्यक्ति या तो स्थान विशेष पर रहने के कारण करते हैं अथवा विभिन्न विभक्तियों या कारक चिह्नों से युक्त होने के कारण। अतः आकृतिमूलक वर्गीकरण में उन भाषाओं को एक वर्ग में रखा जाता है जिनके पदों की रचना-प्रणाली एक सी होती है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की दृष्टि से संसार की भाषाएँ प्रधानतः दो वर्गों में बाँटी जा सकती हैं—

(१) अयोगात्मक (२) योगात्मक ।

योगात्मक वर्ग की भाषाएँ भी परस्पर भेद के कारण योगात्मक श्लिष्ट, योगात्मक अश्लिष्ट एवं योगात्मक प्रश्लिष्ट वर्गों में विभाजित की जाती हैं । इस प्रकार आकृतिमूलक वर्गीकरण की दृष्टि से इनके चार वर्ग किये जाते हैं—

(१) अयोगात्मक ।
(२) योगात्मक श्लिष्ट ।
(३) योगात्मक अश्लिष्ट ।
(४) योगात्मक प्रश्लिष्ट ।



(१) अयोगात्मक—अयोगात्मक वर्ग में वे भाषाएँ आती हैं जिनमें प्रत्येक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए अलग अलग शब्द होते हैं । वहाँ शब्दों के निर्माण में मूलधातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का योग नहीं होता है और न ही वाक्य में शब्दों की स्थिति व्यक्त करने के लिए विभक्तियों का प्रयोग होता है । उस भाषा में वाक्य में पदों के स्थान-परिवर्तन से उनका अर्थ बदलता रहता है । ऐसी भाषाओं में असंख्य शब्दों का समूह रहता है जिनका ज्ञान भाषा पर अधिकार रखने के लिए आवश्यक होता है । अयोगात्मक वर्ग की प्रतिनिधि भाषा चीनी भाषा है ।

'अनेक मानव' के लिए योगात्मक वर्ग की भाषा में विभक्ति युक्त योगात्मक रूप बनेगा जैसे संस्कृत 'मानवाः', हिन्दी में भी 'मानवों' का प्रयोग होगा, पर चीनी भाषा में 'अनेक' के लिए 'तो' शब्द है तथा 'मानव' के लिए 'जिन' । 'अनेक मानव' के लिये 'तो जिन' लिखना पड़ेगा । उसमें किसी भी शब्द को समूह बोधक बनाने के लिए 'तो' शब्द का प्रयोग करना पड़ता है । इस प्रकार अयोगात्मक भाषाओं में प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र और पूर्ण शब्द होता है, उनमें योगात्मक भाषाओं के समान सहायक विभक्तियाँ नहीं होती हैं । हिन्दी की 'ने' 'का' 'की' 'में' आदि विभक्तियाँ भी पूर्ण शब्द नहीं हैं पर मूलशब्द के साथ पूर्णतः युक्त भी नहीं हैं । इस कारण हिन्दी अयोगात्मक और योगात्मक के मध्य

की स्थिति में मानी जा सकती है। हिन्दी में योगात्मक प्रकृति के रूप भी 'मुझे' = मुझको, 'तुझे' = तुमको आदि मिलते हैं।

अयोगात्मक वर्ग की भाषाओं में वाक्य में पदक्रम का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पदों का स्थान बदल देने से अर्थ बदल जाता है। जैसे चीनी में यदि कहा जायेगा—'न्गो ता नी' तो अर्थ होगा 'मैं मारता हूँ तुझे' और यदि पदक्रम बदल दें 'नी ता न्गो' तो अर्थ बदल जायगा कि 'तुम मारते हो मुझे'। योगात्मक भाषाओं में विभक्तियों से पद के अर्थ का बोध होता है। पदों के क्रम कितने भी बदलें पर उनके अर्थ नहीं बदलते हैं। जैसे संस्कृत के एक वाक्य का उदाहरण कई क्रमों में प्रस्तुत है:—

१. बालकः मोदकं खादति=बालक लड्डू खाता है।
२. मोदकं खादति बालकः=बालक लड्डू खाता है।
३. मोदकं बालकः खादति=बालक लड्डू खाता है।
४. खादति बालकः मोदकम्=बालक लड्डू खाता है।

(२) योगात्मक श्लिष्ट—इस वर्ग में वे भाषाएँ आती हैं जिनमें मूलशब्दों में प्रत्यय, विभक्ति आदि रचना-तत्वों के योग से अर्थ बदल जाते हैं। साथ ही रचनातत्व मूल तत्व में पूर्णतः युक्त होकर उसी के अंग बन जाते हैं जैसे 'राम' प्रातिपादिक में 'सु' विभक्ति लगने से उसका रूप 'रामः' बन जाता है। यहाँ 'सु' विभक्ति 'राम' के साथ पूर्णतः युक्त हो गयी है, पर हिन्दी में 'राम ने' रूप में 'ने' विभक्ति अलग से स्पष्ट दिखायी देती है। इसी प्रकार प्रत्यय लगा कर भी मूल शब्द में अर्थ परिवर्तन होता है और प्रत्यय मूल शब्द से पूर्णतः युक्त होकर नये शब्द का निर्माण करते हैं जैसे शरीर, देव, अध्यात्म आदि में 'इक' प्रत्यय लगने से शारीरिक, दैविक, आध्यात्मिक आदि शब्द बनते हैं।

भारोपीय परिवार तथा सामी परिवार की संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता, रूसी, अरबी आदि भाषाएँ इस वर्ग में रखी जा सकती हैं। योगात्मक श्लिष्ट वर्ग की भाषाएँ धीरे-धीरे अयोगात्मकता की ओर विकसित होती हुई प्रतीत होती हैं। संस्कृत योगात्मक श्लिष्ट वर्ग की भाषा है पर उससे विकसित हिन्दी भाषा बहुत कुछ अयोगात्मक प्रकृति की हो गई है। इसी प्रकार लैटिन योगात्मक

श्लिष्ट वर्ग की भाषा थी पर उससे विकसित फ्रांसीसी अयोगात्मक रूप ग्रहण कर चुकी है।

(३) योगात्मक अश्लिष्ट—इस वर्ग की भाषाओं में मूल शब्द के साथ रचनातत्व युक्त होते हैं पर दोनों की स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। इस वर्ग की प्रमुख भाषा तुर्की है। उदाहरण के लिए इस भाषा का एक प्रयोग देखा जा सकता है—

एव = घर

देन = से

इम = मेरा

एव इम देन = मेरे घर से

इस उदाहरण में 'देन' विभक्ति के रूप में प्रयुक्त है, वह पूर्ण शब्द नहीं है बल्कि वह सहायक मात्र है। पर वह मूल शब्द से युक्त होते हुये भी अलग दीखता है। इसी प्रकार हिन्दी के 'ने' 'को' 'का' 'से' आदि कारक चिह्नों की भी स्थिति है। हिन्दी के इन रूपों को योगात्मक अश्लिष्ट वर्ग में रखा जा सकता है।

(४) योगात्मक प्रश्लिष्ट—योगात्मक श्लिष्ट वर्ग की भाषाओं में मूल शब्द और उनके रचना तत्वों का योग हो जाता है और वे एकरूप हो जाते हैं पर उन्हें पृथक किया जा सकता है। योगात्मक प्रश्लिष्ट वर्ग की भाषाओं के मूल शब्द और रचना तत्व परस्पर ऐसे एकरूप हो जाते हैं कि उनका पृथक्करण संभव नहीं होता। इस वर्ग की भाषाओं में कई मूल शब्दों का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर एक शब्द बनाया जाता है। इस वर्ग की भाषाओं में योगात्मकता सर्वाधिक मात्रा में दिखलाई देती है। एस्किमो या बास्क भाषाएँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इस वर्ग की भाषाओं की प्रकृति के कुछ उदाहरण संस्कृत में भी प्राप्त होते हैं। जैसे 'जिगमिषति' एक शब्द है पर इसका अर्थ है—वह जाना चाहता है और 'पिपठिषामि' भी एक शब्द है जिसका अर्थ है—मैं पढ़ना चाहता हूँ।

पहले आकृतिमूलक वर्गीकरण को विशेष महत्व दिया जाता था पर अब इसे बहुत वैज्ञानिक नहीं माना जाता है। इसका एक कारण तो यह है कि बहुत सी

भाषाओं में आकृतिमूलक वर्गीकरण के चारों भेदों के तत्व मिल जाते हैं। दूसरा यह है कि संसार की भाषाओं के अधिकाधिक अध्ययन भाषाओं के आकृतिमूलक वर्गीकरण के भेदों को बढ़ाते ही जायेंगे। अतः इन चार वर्गों में संसार की सभी भाषाओं की स्थिति मान लेना उचित नहीं है।

पारिवारिक वर्गीकरण

संसार की विभिन्न भाषाओं का वर्गीकरण इस आधार पर भी किया जाता है कि वे कितनी मूल भाषाओं से विकसित हुई हैं। जैसे एक व्यक्ति की वंश परम्परा में उत्पन्न मनुष्यों का एक गोत्र या परिवार होता है, उसी प्रकार एक भाषा की पम्परा में विकसित भाषाओं का भी एक कुल या परिवार माना जाता है। इस दृष्टि से भाषाओं के परस्पर साम्य के आधार पर उनकी पारिवारिक स्थिति का निर्धारण किया जाता है। साधारणतः भाषाओं के पारस्परिक साम्य को देखने के लिये छः बातों का ध्यान किया जाता है— १) ध्वनियाँ (२) पद-रचना (३) वाक्य रचना (४) अर्थ (५) शब्द समूह, और (६) स्थानगत निकटता।

इन दृष्टियों से विचार करके भाषाविदों ने संसार की भाषाओं को परिवारों या कुलों, उपकुलों, समुदायों आदि में विभक्त किया है। विभिन्न विद्वानों ने भाषा-परिवारों का जो विभाजन किया है उनकी संख्या सौ तक है, पर मुख्यतः बारह परिवार मान्य हैं। अनुमानतः बारह मूल भाषाओं से संसार की समस्त भाषाएँ विकसित हुई होंगी। अतः उन्हीं बारह परिवारों में विश्व की सभी भाषाएँ आ जाती हैं।

इन बारह परिवारों में प्रथम छ परिवारों का सम्बन्ध एशिया और योरोप महाद्वीप से है, तीन का सम्बन्ध अफ्रीका महाद्वीप से, एक-एक का सम्बन्ध आस्ट्रेलिया और अमेरिका से है और अन्तिम परिवार मिश्रित है जिसमें उन भाषाओं की गणना की गयी है जो उपर्युक्त किसी भी परिवार में नहीं आती हैं। ये भाषा-परिवार निम्नलिखित हैं—

(१) भायोरोपीय परिवार—भायोरोपीय परिवार विश्व के भाषा परिवारों में प्रथम स्थान रखता है। इस परिवार की भाषाओं तथा उनके बोलने वालों

की संख्या सर्वाधिक है। इसका प्रसार भारत से लेकर योरोप तक है। यद्यपि भारत की द्राविड़ परिवार की भाषाएँ इसमें नहीं आती हैं तथा भारत-योरोप की भाषाओं के अतिरिक्त ईरानी उप परिवार की भाषाएँ भी इसमें आती हैं। इस परिवार में विश्व की कई प्राचीन और महत्वपूर्ण भाषाएँ आती हैं। संस्कृत, पालि, पुरानी ईरानी, ग्रीक, लैटिन जैसी प्राचीन तथा अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, नई-ईरानी, पश्तों तथा उत्तर भारत की सभी भाषाएँ इसमें आती हैं। इस परिवार को कोई उप-परिवारों में विभक्त किया गया है जिस पर स्वतन्त्र रूप से विचार होगा। इस परिवार को जफ़ेटिक (एक प्राचीन जाति के नाम पर), भारत-जर्मनिक, आर्यकुल आदि नामों से भी भाषा-वैज्ञानिकों ने पुकारा है।

(२) सामी या सेमेटिक परिवार—इस परिवार का नामकरण प्राचीन सामी जातियों (सेमेटिक ट्राइब्स के नाम पर किया गया है। इस परिवार के क्षेत्र में फिलिस्तीन, अरब, ईराक, सीरिया, मिस्र, ईथोपिया, अलजीरिया, मोरक्को आदि की भाषाएँ आती हैं। यहूदियों की हिब्रू भाषा, जिसमें मूल बाइबिल तथा प्राचीन अरबी जिसमें कुरान लिखा गया था, इसी परिवार की भाषाएँ हैं। वर्तमान अरबी और हबशी भाषाएं इसी परिवार की हैं।

(३) तिब्बत-चीनी परिवार—इस परिवार के क्षेत्र में तिब्बत, चीन, ब्रह्मा और स्याम की भाषाएँ आती हैं। इनमें चीनी भाषा मुख्य है जो संसार की प्राचीन भाषाओं में हैं। इस वर्ग की भाषाएँ 'अयोगात्मक' होती हैं जिनके शब्द 'एकाक्षर' या अपरिवर्तनीय होते हैं। अतः इसे एकाक्षर परिवार भी कहा जाता है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार इसे 'बौद्ध कुल' भी कहा जा सकता है क्योंकि इसमें सभी बौद्ध धर्मावलम्बी देशों की भाषाएँ हैं।

(४) यूराल-अल्ताई परिवार—इस परिवार की भाषाओं का क्षेत्र मंगोलिया, मंचूरिया, साइबेरिया, फिनलैण्ड, हंगरी आदि तक है। इस परिवार को तूरानी या सीदियन परिवार भी कहते हैं। इस परिवार की प्रमुख भाषा तुर्की या तातारी है। कुछ विद्वान जापान तथा कोरिया की भाषाओं को इसी परिवार में मानते हैं, कुछ उसे तिब्बत-चीनी परिवार में रखते हैं और कुछ उनका अलग परिवार मानते हैं। कुछ विद्वान यूराल और अल्ताई को अलग-अलग परिवार मानते हैं।

(५) मैले-पालीनेशियन परिवार—इस परिवार में मलाया, जावा, सुमात्रा बोर्नियों, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका के निकटवर्ती मेडागास्कर आदि भाषाएँ आती हैं। इस प्रकार एक विस्तृत क्षेत्र के इन द्वीपों की भाषाएँ इस परिवार में हैं। क्षेत्र-गत दूरी के होते हुए भी 'इनकी भाषाओं में अद्भुत समानता प्राप्त होती है। 'मैले' शब्द मलाया का बोधक है और 'पालीनेशिया' ग्रीक शब्द 'पालिस' (=अनेक) और 'नेसोस' (=द्वीप) से बना है।

(६) द्राविड़ परिवार—भारत में द्राविड़ परिवार की भाषाएँ भी मिलती हैं। दक्षिण भारत की तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ इस परिवार की प्रमुख भाषाएँ हैं। उत्तर भारत की आर्य भाषाओं और इस परिवार की भाषाओं में समान रूप से संस्कृत के शब्द इतने अधिक हैं कि ऊपर से इनमें बहुत समानता प्रतीत होती है पर मूल शब्द तथा वैयाकरणिक रचना आदि की दृष्टि से ये भाषाएँ पृथक हैं और इसी से इनके अलग-अलग कुल या परिवार माने गये हैं।

(७) हामी परिवार या उत्तर अफ्रीकी भाषा परिवार—इस परिवार की भाषाओं का मुख्य क्षेत्र उत्तर अफ्रीका है। अतः सुविधा की दृष्टि से इसे उत्तर अफ्रीकी भाषा परिवार भी कहा जा सकता है। इसमें मिस्र की प्राचीन भाषा काप्टिक मुख्य है जिसके नमूने चित्रलिपि में उत्कीर्ण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तर अफ्रीका की समुद्रतटीय भाषा लीबियन तथा पूर्व भाग की एथीयोपियन आदि भाषाएँ इसी परिवार में पड़ती हैं। 'हामी' या 'हैमेटिक' भी विश्व की एक प्राचीन जाति थी जिसके नाम पर इस परिवार का नामकरण हुआ है।

(८) सूडानी परिवार या मध्य अफ्रीकी भाषा परिवार—सूडान की भाषाएँ इस परिवार में पड़ती हैं। मध्य अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर में पूरब से पश्चिम तक इस भाषा का क्षेत्र पड़ता है। अतः इसे मध्य अफ्रीकी भाषा परिवार भी कहा जा सकता है। इस परिवार की भाषाओं की संख्या चार सौ से ऊपर है। इनमें कुछ ही भाषाएँ लिपिबद्ध हैं अन्यथा उसके बोलचाल के ही रूप आदि-वासियों की भाषा में मिलते हैं।

(९) बन्टू परिवार या दक्षिण अफ्रीकी भाषा परिवार—प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण अफ्रीका में इस परिवार की भाषाएँ वोली जाती हैं। अतः इसे दक्षिण अफ्रीकी भाषा परिवार भी कहा जा सकता है। इसे परिवार में लगभग डेढ़ सौ भाषाएँ आती हैं जो इस भूभाग के आदिवासियों की भाषाएँ हैं। इनमें जंजीबार की स्वाहिली भाषा सबसे प्रमुख है। अफ्रीकी तट की सम्पर्क भाषा के रूप में व्यापारियों की दृष्टि से इसका वड़ा महत्व है। इसमें थोड़ा सा साहित्य भी मिलता है।

(१०) अमरीकी भाषा परिवार—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका की आदि भाषाओं की संख्या एक हजार से ऊपर मानी जाती है जिनका भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से समुचित अध्ययन नहीं हुआ है। इन भाषाओं में परस्पर अन्तर भी पर्याप्त है पर भौगोलिक दृष्टि से इन्हें एक परिवार का मान लिया गया है। इस परिवार का नामकरण बहुत उचित और वैज्ञानिक नहीं हैं। इसमें पड़ने वाली भाषाओं के तीन प्रमुख वर्ग किए जा सकते हैं—(१) कनाडा और संयुक्त राज्य की आदि भाषाएँ (२) मैक्सिको और मध्य अमेरिका की आदि भाषाएँ तथा (३) दक्षिण अमेरिका की आदि भाषाएँ।

(११) आस्ट्रेलिया भाषा परिवार—आस्ट्रेलिया के उत्तर और दक्षिण में वोलीं जाने वाली सौ से अधिक भाषाएँ इसमें आती हैं। इस परिवार का नामकरण भी भौगोलिक ही है। ये भाषाएँ वहाँ के आदिवासियों की भाषाएँ थीं जो धीरे-धीरे लुप्त हो रही हैं। तस्मानियाँ की भाषाएँ भी कुछ विद्वानों के अनुसार इसी परिवार में हैं और कुछ के अनुसार अलग परिवार में हैं जो लुप्त हो चुकी हैं।

(१२) मिश्रित भाषा परिवार—संसार की कुछ भाषाएँ अपनी विचित्रता और विशेषता के कारण उपर्युक्त किसी भी वर्ग में नहीं रखी जा सकती हैं। अतः इनको एक अलग समूह में गिन कर केवल सुविधा की दृष्टि से इन्हे मिश्रित परिवार का कह दिया गया है। जैसे काकेशिया प्रदेश की भाषाएँ अपने ढंग की ही हैं जिन्हें कुछ विद्वान 'काकेशिया परिवार' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें जार्जियन सबसे प्रमुख भाषा है। इसी प्रकार योरोप की बास्क और यूट्रस्कन

नाम की भाषाएँ भी अपने ढंग की विचित्र भाषाएँ हैं। इन सबको उपर्युक्त किसी भी परिवार में नहीं रखा जा सकता।

उपर्युक्त भाषा परिवारों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतान्तर भी है। कुछ विद्वान इनमें से एकाधिक परिवारों को एक ही परिवार मानते हैं जैसे सामी-हामी को मिलाकर कुछ लोग एक ही परिवार मानते हैं। साथ ही कुछ लोग तिब्बत-चीनी परिवार के साथ जापानकोरियाई परिवार, प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों की भाषाओं का अष्ट्रो-एशियाई परिवार, काकेशिया की भाषाओं का परिवार आदि अतिरिक्त परिवारों को भी मानते हैं। इस प्रकार भाषा-परिवारों की संख्या घट-बढ़ भी जाती है, पर उपर्युक्त बारह परिवार ही मुख्य है।

अध्याय २

भायोरोपीय भाषा परिवार

मूल भायोरोपीय भाषा—भाषाविदों का अनुमान है कि भायोरोपीय परिवार कीं सभी भाषाएँ किसी एक मूल भाषा से विकसित हुई हैं, पर उस भाषा का कोई रूप आज हमें प्राप्त नहीं है। फिर भी इस परिवार की संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके विद्वानों ने इसके स्वरूप की कल्पना की है। अनुमानतः ई० पू० २६००-२७०० के पूर्व यह काल्पनिक 'भायोरोपीय भाषा' अस्तित्व में रही होगी और उसके बाद विद्यमान भायोरोपीय भाषाओं की उत्पत्ति हुई होगी।

ध्वनियाँ—इस परिवार की प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'मूल भायोरोपीय भाषा' में निम्नलिखित ध्वनियाँ रही होंगी[1] :—

स्वर

मूल ह्रस्व स्वर—अ इ उ ऍ (e) ऑ (o)

मूल दीर्घ स्वर—आ ई ऊ ए ($\bar{e}$) ओ ($\bar{o}$)

संयुक्त ह्रस्वर स्वर—अइ अउ अऋ अऌ अन् अम्
ऍइ ऍउ ऍऋ ऍऌ ऍन् ऍम्

संयुक्त दीर्घ स्वर—आइ आउ आऋ आऌ आन् आम्
एइ एउ एऋ एऌ एन् एम्
ओइ ओउ ओऋ ओऌ ओन् ओम्

उदासीन (अति ह्रस्व) स्वर—अ (ə)

अर्द्धस्वर —य्, व्

---

१. देवेन्द्रनाथ शर्मा : भाषा विज्ञान की भूमिका (प्र० सं०) पृ० ११२-११३ से उद्धृत।

व्यंजन

कंठ्य—क् ख् ग् घ्

क़ ख़ ग़ घ़

क्व् ख्व् ग्व् घ्व्

दन्त्य—त् थ् द् ध्

ओष्ठ्य—प् फ् ब् भ्

ऊष्म—स् (ज्)

अन्तस्थ—य् र् ल् व् न् म्

पहले भाषा वैज्ञानिकों का यह अनुमान था कि ये ध्वनियाँ भारत ईरानी शाखा की संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में अधिक सुरक्षित हैं, पर तुलनात्मक अध्ययन से मालूम होता है कि ये ध्वनियाँ योरोपीय ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में संस्कृत की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं। अब अर्द्धस्वर और अर्द्धव्यंजन (ऋ, लृ आदि) इस परिवार की किसी भी भाषा में नहीं बचे हैं। भायोरोपीय की कंठोष्ठ्य (क्व् आदि) ध्वनियाँ ग्रीक, लैटिन, जर्मनिक आदि में तो सुरक्षित हैं पर भारत ईरानी आदि अन्य शाखाओं में यह तालव्य ध्वनियों (च् छ् ज् झ्) में परिवर्तित हो गयी हैं।

मूल भायोरोपीय भाषा की ध्वनियों में इस परिवार की विभिन्न शाखाओं में कुछ विशिष्ट क्रम में परिवर्तन हुआ है, जिसका विस्तृत अध्ययन भाषाविदों ने किया है। एक प्रमुख स्वरध्वनि परिवर्तन (ablaut) तीन क्रमों में दृष्टिगोचर होता है। प्रथम क्रम में धातु अथवा प्रत्यय विभक्ति की मूल स्वरध्वनि अविकृत रहती है। द्वितीय क्रम में स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है और तृतीय क्रम में ह्रस्व स्वर ध्वनि लुप्त हो जाती है। जैसे संस्कृत 'पदस्' द्वितीय क्रम में 'पात्' और तृतीय क्रम में 'उपब्द बन जाता है।

विशेषताएँ —मूल भायोरोपीय भाषा आकृतिमूलक वर्गीकरण की दृष्टि से योगात्मक-श्लिष्ट वर्ग की भाषा रही होगी। उस भाषा का व्याकरण पर्याप्त जटिल प्रतीत होता है। उसमें शब्द और धातु रूपों के अनेक भेद थे। प्रत्ययों की बहुलता के कारण शब्द-रूपों में बाहुल्य रहता था। भाषा में स्वराघात या

संगीतात्मकता का वैशिष्ट्य था। उच्चारण में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग होता था। सामासिकता, इस भाषा की अन्य विशेषता प्रतीत होती है, जो संस्कृत भाषा में सर्वाधिक मिलती है।

संस्कृत, ग्रीक आदि के शब्दों एवं धातु रूपों के अध्ययन से यह अनुमान होता है कि मूल भायोरोपीय भाषा में तीन लिंग (पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग), तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) और आठ कारक (कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाय, अपादान, संबंध, अधिकरण, संबोधन) थे। सर्वनाम के रूपों में विविधता थी।

धातु रूपों में भी तीन वचन, तीन पुरुष (उत्तम, मध्यम, अन्य), दो पद (आत्मने और परस्मै), तीन वाच्य (कर्तृ, कर्म, भाव), चार काल (वर्तमान-लट्, असंपन्न-लङ्, सामान्य-लुङ्, सम्पन्न-लिट्) तथा पांच भाव (निर्देश, अनुज्ञा, सम्भावक, अभिप्राय, निर्बन्ध) थे।

इस प्रकार मूल भायोरोपीय भाषा के संभावित स्वरूप की एक कल्पना की गयी है।

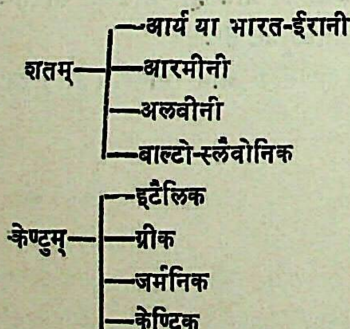
भायोरोपीय परिवार के उपकुल—इस परिवार की भाषाओं को समान विशेषताओं के आधार पर विभिन्न उपकुलों में विभाजित किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी तक यह समझा जाता था कि इस परिवार के आठ उपकुल ही विद्यमान हैं तथा हित्ती और तोखारी दो उपकुल समाप्त हो चुके हैं और उनकी भाषाएँ अब संसार से लुप्त हो चुकी हैं। किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हित्ती और तोखारी के भी प्रभूत अभिलेखों के प्राप्त हो जाने के कारण इन उपकुलों की संख्या दस हो गयी है जो निम्नलिखित हैं :—

१. आर्य या भारत ईरानी—(क) भारतीय आर्य भाषाएं (ख) ईरानी भाषाएं (ग) दरद भाषाएं
२. बाल्टो-स्लैवोनिक
३. आरमीनी
४. अलबीनी
५. इटैलिक

६. ग्रीक
७. जर्मनिक या ट्यूटानिक
८. केल्टिक
९. हित्ती
१०. तोखारी

केण्टुम् और शतम्—सन् १८७० में अस्कोली नाम के एक भाषावैज्ञानिक ने संपूर्ण भायोरोपीय भाषाओं को दो प्रधान वर्गों में विभक्त किया और उसने उन्हें क्रमशः केण्टुम् और शतम् वर्ग कहा। ये दोनों ही नाम सौ संख्या से वाचक हैं। भायोरोपीय परिवार की कुछ भाषाओं में सौ के लिये 'शतम्' या उससे मिलते-जुलते उच्चारण के शब्द प्रयुक्त होते हैं और कुछ में 'केण्टुम्' या उससे मिलते-जुलते उच्चारण के शब्दों का प्रयोग होता है। लैटिन में सौ के लिये 'केण्टुम्' और संस्कृत में उसके लिये 'शतम्' शब्द का प्रयोग होता है। इससे अस्कोली महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भायोरोपी भाषा की कंठ्य ध्वनियाँ कुछ भाषाओं में कंठ्य ही रह गयीं और कुछ में संघर्षी (श, स, ज) ध्वनियों में परिवर्तित हो गयीं। 'केण्टुम्' और 'शतम्' का उच्चारण-भेद इसी सिद्धान्त का उदाहरण है।

इस प्रकार उन्होंने भायोरोपीय परिवार के प्रथम आठ उपकुलों में से चार को 'केण्टुम्' और चार को 'शतम्' वर्ग में रखा। भारत-ईरान और पूर्वी योरोप के उपकुल 'शतम्' और पश्चिमी योरोप के उपकुल 'केन्टुम्' वर्ग के अन्तर्गत रखे गये जो इस प्रकार हैं:—



प्रारंभ में यह भी अनुमान किया गया था कि भायोरोपीय परिवार के पूर्वी क्षेत्र की भाषाएँ 'शतम्' और पश्चिमी क्षेत्र की भाषाएँ 'केण्टुम्' वर्ग की हैं। पर हित्ती और तोखरीय के अभिलेखों के प्राप्त होने से यह धारणा गलत सिद्ध हो गयी है क्योंकि ये पूर्वी भाषाएँ हैं पर 'केण्टुम्' वर्ग की हैं।

'केण्टुम्' और 'शतम्' वर्ग में भाषाओं का विभाजन बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह एक ही ध्वनि के परिवर्तन पर निर्भर है।

उपकुलों का परिचय

(१) आर्य अथवा भारत-ईरानी—इस उपकुल की तीन शाखाएँ हैं जो इस प्रकार हैं :—

(अ) भारतीय आर्य अथवा आर्यावर्ती—इसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ—हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि आती हैं। इस शाखा की भाषाओं को काल-क्रमानुसार तीन भागों में विभक्त किया गया है (क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ, (ख) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ तथा (ग) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ।

(ब) ईरानी—कालक्रमानुसार इस शाखा की भाषाओं के भी तीन भाग किये गये हैं :—

(क) पुरानी ईरानी के रूप पारसी धर्मग्रन्थ अवेस्ता की भाषा में मिलते हैं। यह भाषा ऋग्वेद की वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। उसके बाद इस भाषा के परवर्ती रूप कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिलालेखों आदि में प्राप्त होते हैं।

(ख) मध्य ईरानी भाषा के रूप पहलवी भाषा के रूप में मिलते हैं। ईरान के ससानी वंशी शासकों के समय में इस भाषा का विकास हुआ।

(ग) आधुनिक ईरानी भाषा का प्राचीनतम रूप फिरदौसी के 'शाहनामा' में प्राप्त होता है। रूसी तुर्किस्तान की ताजीकी, अफगानिस्तान की पश्तो तथा बलूचिस्तान की बलोच आदि भाषाएँ आधुनिक ईरानी के ही अन्तर्गत आती हैं।

(स) दरद या पैशाची—दरद जाति की भाषाएँ इस शाखा में आती हैं जिनके क्षेत्र कश्मीर तथा उसके उत्तरवर्ती हिमालय के दुर्गम प्रदेश माने जाते हैं। इन्हें पैशाची भाषाएँ भी कहते हैं। इनका सम्बन्ध पैशाची प्राकृत से है। कश्मीरी भाषा इसी वर्ग की भाषा है जो शारदा लिपि में लिखी जाती है।

(२) बाल्टो-स्लैवोनिक—इस उपकुल की भाषाओं का क्षेत्र बाल्टिक सागर की तटवर्ती भाषाओं से लेकर एटलाँटिक सागर के तट पर बोली जाने वाली स्लैवोनी भाषा तक पड़ता है। इसकी दो शाखाएँ हैं—(क) बाल्टिक जिसमें लिथुआनी, लेटिश और प्रशा की प्राचीन भाषाएँ आती हैं। (ख) स्लैवोनिक जिसमें बलगेरिया व रूस की भाषाएँ, पोलैण्ड की पोली भाषा, चेक, स्लैवोनी आदि भाषाएँ आती हैं।

(३) आरमीनी—आरमेनिया, ईरान की पश्चिमी सीमा से सटा है। अतः इसकी भाषा पर ईरानी का बड़ा प्रभाव है। फिर भी उसकी भाषा का ढाँचा ईरानी से भिन्न है। इस भाषा में कुछ-कुछ धार्मिक सामग्री, ऐतिहासिक सामग्री और कुछ कीलाक्षर लिपि के अभिलेख प्राप्त होते हैं। भाषाविद तारापुरवाला इसे आर्यशाखा और बाल्टो-स्लैवोनिक को जोड़ने वाली कड़ी मानते हैं। इस प्रकार यह एशिया और योरोप की भाषाओं की संयोजक भाषा है।

(४) अलबीनी—अलबेनिया के पहाड़ी प्रदेश की भाषा इस वर्ग में आती है। इस पर ग्रीक, स्लैवोनी आदि निकटवर्ती भाषाओं के शब्दों और व्याकरण आदि का इतना प्रभाव पड़ा है कि उसका स्वदेशी तत्व लुप्त सा हो गया है। इस भाषा में प्राचीन सामग्री बहुत कम है। केवल कुछ प्राचीन अभिलेख प्राप्त हैं। सोलहवीं शताब्दी का बाइबिल का एक अनुवाद इस भाषा में मिलता है।

(५) इटैलिक—इस वर्ग में इटली की प्राचीन भाषा लैटिन तथा आधुनिक भाषाओं के साथ ही लैटिन से निकली फ्रांसीसी, पुर्तगाली, रूमानी (रूमानिया की भाषा) तथा स्पेनी भाषाएँ आती हैं। इनमें लैटिन का प्रभाव संपूर्ण योरप की भाषाओं पर पड़ा है। इटालवी और फ्रांसीसी भाषा में साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है।

(६) ग्रीक—इस वर्ग की प्राचीन भाषा ग्रीक है जिसकी कई बोलियाँ प्रचलित थीं और उनमें परस्पर बड़ा भेद था। ग्रीक 'केण्टुम्' वर्ग की प्राचीनतम भाषा है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य और ज्ञान-विज्ञान का समृद्ध भाण्डार मिलता है। ग्रीस की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में मानी जाती है। अतः वहाँ की भाषा का भी प्राचीन समय में ही पर्याप्त विकास हुआ था। इसका प्रभाव भी योरोप की सभी भाषाओं पर पड़ा है। इसी भाषा में प्रसिद्ध कवि होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' नामक महाकाव्य हैं तथा सुकरात और अरस्तू के दार्शनिक ग्रंथ भी मूल रूप में इसी भाषा में प्रस्तुत हुए थे।

(७) जर्मनीक या ट्यूटानिक—इस वर्ग की भाषाओं का प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। इस वर्ग की उत्तरी भाषाओं में आइसलैण्डी, डेनी, नार्वेई, स्वीडनी तथा दक्षिणी भाषाओं में अंग्रेजी, जर्मन, डच और फ्लेमी (बेल्जियम की भाषा) आती हैं। इस वर्ग की भाषाओं का क्षेत्र-विस्तार पर्याप्त अधिक है। अंग्रेजी तो अंग्रेजों के साथ-साथ सम्पूर्ण विश्व में पहुँची। साहित्य और ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से अंग्रेजी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दर्शन और विज्ञान में जर्मन भाषा कुछ दृष्टियों से अंग्रेजी से भी महत्वपूर्ण है।

(८) केल्टिक—इस वर्ग की पुरानी भाषा गाल थी जो अब लुप्त हो चुकी है। इस वर्ग की वर्तमान भाषाएँ आयरलैण्ड, स्काटलैण्ड, वेल्स और कार्नवाल क्षेत्रों में बोली जाती हैं। इन भाषाओं का साहित्यिक महत्व नहीं है।

(९) हित्ती—वर्तमान शताब्दी में ही टर्की के बोगाजकोई नामक स्थान से इस भाषा के अभिलेख कीलाक्षर लिपि में प्राप्त हुए हैं। इसके पूर्व तक यह वर्ग लुप्त माना जाता रहा है। हित्ती एक प्राचीन जाति थी जिसकी भाषा इस वर्ग में आती है।

(१०) तोखारी—हित्ती की ही भाँति तोखारी वर्ग भी इस शताब्दी के पूर्व तक विलुप्त समझा जाता रहा है पर बीसवीं सदी में फ्रांसीसी और जर्मन विद्वानों की खोज में तोखारी भाषा में बहुत सी हस्तलिखित पोथियाँ प्राप्त हुई हैं जो प्राचीन भारतीय लिपि में हैं। तोखार एक प्राचीन जाति थी जिसका राज्य ई० पू० १००० से ई० पू० ६०० के आस-पास मध्य एशिया में था जिसे हूणों ने विनष्ट किया। इसी जाति से तोखारी भाषा का संबंध था।

अध्याय ३

भारतीय आर्यभाषाओं का विकास

भारतीय आर्य भाषाओं का प्रारम्भ वेदों की भाषा से माना जाता है। आर्य, भारत के मूल निवासी थे अथवा बाहर से आये थे, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है, पर वेदों में जिस स्थान की चर्चा आती है वह 'सप्तसिंधव' प्रदेश है। यह वर्तमान पंजाब का ही प्राचीन नाम है। भारत में आर्यों का इस भू-भाग से सम्बन्ध रहा और यहीं उन्होंने अपनी भाषा का प्रमाण, वैदिक भाषा के रूप में छोड़ा। आगे चल कर इसी वैदिक भाषा से संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुयीं जिनका विकास-क्रम इस प्रकार है—वैदिक-संस्कृत > पालि-प्राकृत-अपभ्रंश > आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ। कालक्रम से भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को निम्नलिखित तीन चरणों में विभाजित किया गया है—

(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (१५०० ई० पू० से ५०० ई पू०)
(२) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल (५०० ई० पू० से १००० ई०)
(३) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (१००० ई० से वर्तमान समय)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ—प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में वैदिक-संस्कृत और लौकिक संस्कृत आती हैं। वैदिक संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में प्राप्त होता है। क्रमशः यह भाषा सरलतर होती गयी। वैदिक साहित्य में प्रमुखतः चार संहिताएँ—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—आती हैं। इनके उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों, अरण्यक ग्रन्थों और उपनिषदों का निर्माण हुआ।

ऋग्वेद को पाणिनी ने 'छंदस्' भी कहा है। वह एक छन्दोबद्ध रचना है। वेदों की तुलना में ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ब्राह्मण मुख्यतः गद्य में लिखे गये हैं। भाषा-रूप के अध्ययन की दृष्टि से गद्य अधिक महत्वपूर्ण होता है। वेदों की भाषा साहित्यिक भाषा है। उसका बोलचाल का कोई रूप भी प्रचलित रहा होगा, पर वह अब उपलब्ध नहीं है। वेद पहले

स्मृति-परम्परा में सुरक्षित थे। आगे चलकर इनके मूलरूप को सुरक्षित रखने के लिए पदपाठ का निर्माण हुआ और वेद की प्रत्येक शाखा के प्रतिशाख्यों की भी रचना हुयी। उपनिषदों के काल तक आते-आते वैदिक भाषा के व्याकरण-रूपों में इतनी सरलता आ गयी कि वह लौकिक संस्कृत के अति निकट पहुँच गयी।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल की दूसरी भाषा संस्कृत है, वैदिक संस्कृत से पृथक करने के लिए इसे लौकिक संस्कृत भी कहा जाता है। इस भाषा का विवेचन सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में किया है। उन्होंने अपने व्याकरण की आदर्श भाषा को लोक प्रचलित भाषा कहा है। संस्कृत भाषा में विपुल साहित्य की रचना हुई। सभी स्मृतियाँ, पुराण, महाकाव्य (रामायण-महाभारत) तथा परवर्ती काव्य, नाटक, आख्यायिका से लेकर ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में संस्कृत संसार की अति समृद्ध प्राचीन भाषाओं में गिनी जाती है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषाएँ योगात्मक श्लिष्ट वर्ग की थीं, जिनमें संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। उस भाषा की रूप-रचना में विविधता और जटिलता थी। एक ही शब्द के अनेक रूप बनते थे। वैदिक भाषा में स्वराघात की प्रधानता थी और उनके उच्चारण के लिए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का प्रयोग होता था जिनके चिह्न निश्चित किये गये थे। पर संस्कृत में स्वराघात का स्थान बलाघात ने ले लिया।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ—प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के विकास-क्रम में कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन है। फिर भी इन दो कालों की भाषाओं की प्रकृति और उनके स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। इस काल की भाषाओं के तीन वर्ग हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश। इस काल को प्राकृत काल भी कहा गया है तथा उपर्युक्त तीन वर्गों की भाषा को क्रमशः प्रथम प्राकृत (५०० ई० पू० से १ ई०), द्वितीय प्राकृत (१ ई० से ५०० ई०) तथा तृतीय प्राकृत (५०० ई० से १०००) भी कहा जाता है।

पालि या प्रथम प्राकृत—'पालि' शब्द की निष्पत्ति और उसके स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध

में अलग-अलग अनुमान लगाया है। कुछ लोग पंक्ति से इसकी व्युत्पत्ति बताते हैं—पंक्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि। कुछ इसे 'प्राकृत', कुछ 'पर्याय', कुछ पाटलिपुत्र के 'पाटलि' आदि शब्दों से निष्पन्न बताते हैं। यही मतान्तर पालि के क्षेत्र के सम्बन्ध में भी पाया जाता है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार इस भाषा में मागधी और पैशाची प्राकृत की विशेषताएँ मिलती हैं और वे इसे प्राचीन मगध जनपद की भाषा मानने के पक्ष में हैं। एक अन्य मत है कि इसमें कई भाषाओं का मिश्रण है तथा इसका क्षेत्र प्राचीन कोशल जनपद था। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का अनुमान है कि पालि कदाचित् शौरसेनी प्राकृत की किसी प्राचीन बोली के आधार पर बनी है और इस प्रकार इस बोली का प्राचीन क्षेत्र भी शूरसेन जनपद में मानना पड़ेगा। प्रतीत यह होता है कि पालि के मूल रूप पर कई क्षेत्रीय भाषाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा है कि उसके मूलरूप के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा अलग-अलग मत व्यक्त किया जाता है।

पालि भाषा में बौद्ध थेर साहित्य तथा हीनयान साहित्य लिखा गया है। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी यही है, पर उस पर क्षेत्रीय प्रभाव इतना पड़ा है कि उसके तीन रूप स्पष्ट मिलते हैं—पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। पालि में कुछ वैदिक ध्वनियों—ऋ, श, ष, आदि का लोप हो गया। वचन तीन के स्थान पर दो ही रह गये तथा स्वराघात के स्थान पर बलाघात का प्रारम्भ हो गया।

प्राकृत या द्वितीय प्राकृत—प्राकृतों की उत्पत्ति संस्कृत से हुई। संस्कृत भाषा का ही लोक-प्रचलित रूप 'प्राकृत' था। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि प्राकृत ही मूल भाषा है और इसी से सुधार या संस्कार करके संस्कृत बनायी गयी। प्राकृत का मान्य व्याकरण ग्रन्थ वैयाकरण वररुचि का 'काव्य प्रकाश' है। इसमें उन्होंने प्राकृतों के चार भेद किये हैं—(१) महाराष्ट्री (२) पैशाची (३) मागधी (४) शौरसेनी। हेमचन्द्र नामक परवर्ती वैयाकरण ने इनके अतिरिक्त दो और प्राकृतों का विचार किया है—अर्द्धमागधी और शूलिका पैशाचिक। महाराष्ट्रीय प्राकृत का क्षेत्र विदर्भ-महाराष्ट्र, मागधी का मगध जनपद, अर्द्धमागधी का काशी-कोशल जनपद, शौरसेनी का शूरसेन जनपद (मथुरा के आसपास)

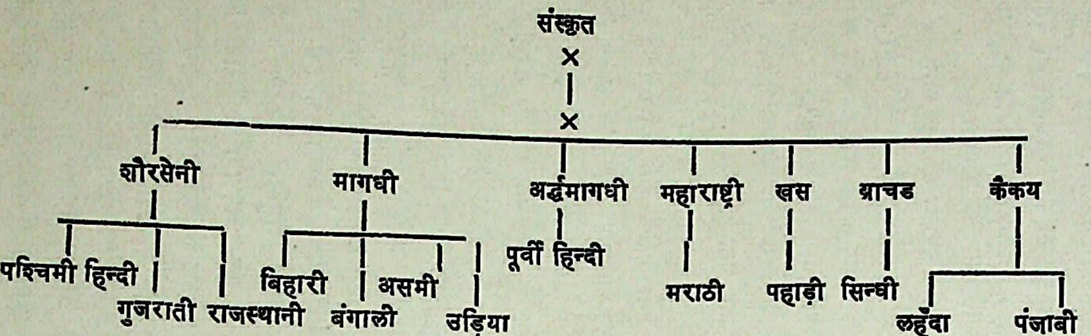
था। पैशाची का विशेष साहित्य प्राप्त नहीं है जिससे उसके क्षेत्र का ठीक निर्धारण हो। इसमें एकमात्र रचना गुणाढ्य की 'बड्डकहा' (बृहत्कथा) प्राप्त है। प्राकृतों के इन विभिन्न रूपों में अलग-अलग पर्याप्त साहित्य मिलता है और उनके अपने-अपने ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी वैशिष्ट्य हैं।

अपभ्रंश या तृतीय प्राकृत—अपभ्रंश को बहुत दिनों तक एक स्वतन्त्र भाषा नहीं माना जाता रहा है। उसे प्राकृतों का ही बोलचाल का अपभ्रंश या बिगड़ा हुआ रूप माना जाता था। महाभाष्य में इस शब्द का इसी रूप में प्रयोग मिलता है—एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। वि० सं० ६५० के पूर्व के वलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में उसके पिता गुहसेन को तीन भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश—का कवि कहा गया है। वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तीनों भाषाओं का विचार किया है। मार्कण्डेय नामक वैयाकरण ने तीन अपभ्रंशों की चर्चा की है—नागर व्राचड और उपनागर। उन्होंने नागर की गुजरात में, व्राचड की सिन्ध में और उपनागर की इन दोनों के बीच में स्थिति बतायी है। आधुनिक विद्वानों ने प्रत्येक प्राकृत का अपभ्रंश रूप माना है जैसे महाराष्ट्री से मराठी, मागधी से मागधी अपभ्रंश आदि। अपभ्रंश में भी प्रचुर साहित्य मिलता है। सम्पूर्ण सिद्ध साहित्य जिसमें सरहपा, लुइपा भुसुकपा आदि सिद्धों की रचनायें आती हैं तथा जैन-साहित्य जिसमें स्वयंभू, हेमचन्द्र, सोमप्रभु सूरि, शार्ङ्गधर आदि कवियों के दोहे और चरितकाव्य आते हैं, इसमें ही लिखे गये हैं। अद्दहमाण का लिखा हुआ 'संदेश रासक' इसका एक साहित्यिक प्रेमाख्यानक ग्रन्थ है।

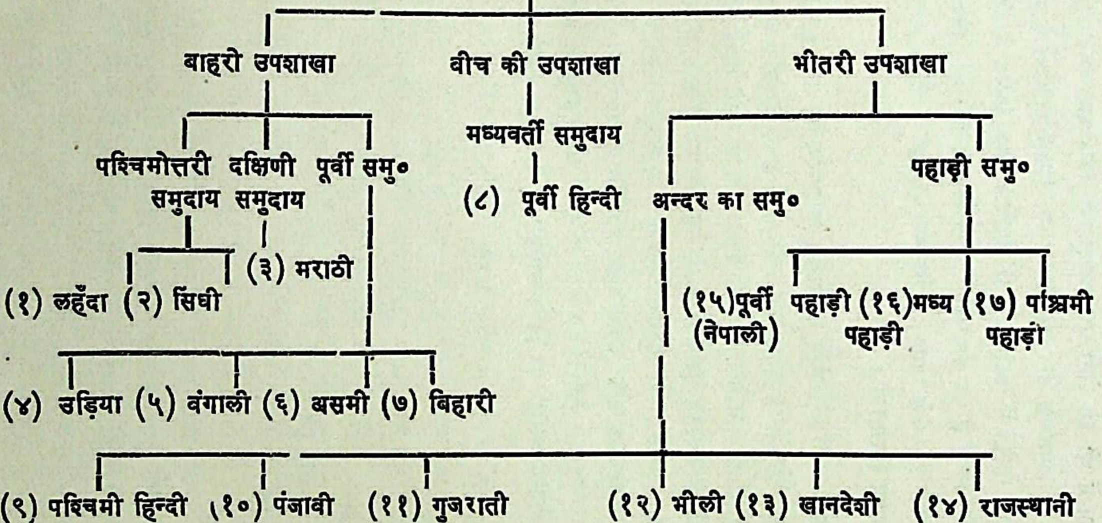
वस्तुतः अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं और राहुल सांकृत्यायन ने भी अपभ्रंश को हिन्दी का प्राचीन रूप माना है। अपभ्रंश तक आते-आते प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का योगात्मक श्लिष्ट रूप समाप्त हो जाता है और उनमें कुछ अयोगात्मकता के तत्व आते हैं। वचन तो प्राकृत-काल में ही दो हो चुके थे, अपभ्रंश में लिंग भी दो ही रह गये।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में आधुनिक भारत की, द्राविड़ भाषाओं को छोड़कर लगभग समस्त भाषाएँ

आती हैं। इन भाषाओं का प्रारम्भ-काल १००० ई० से माना जाता है। इन समस्त भाषाओं का विकास विभिन्न अपभ्रंशों से माना गया है, यद्यपि अपभ्रंशों और आधुनिक आर्यभाषाओं के विकास-क्रम का अध्ययन अभी बहुत संतोषजनक नहीं है। विभिन्न अपभ्रंशों से ही आधुनिक आर्यभाषाओं का सम्बन्ध है, जो निम्नलिखित ढंग से दिखाया जा सकता है :—



वर्गीकरण—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की वर्तमान प्रकृति के आधार पर भाषाविदों ने उनका वर्गीकरण करने का प्रयास किया। सबसे प्रथम इस दृष्टि से डॉ० ग्रियर्सन का नाम लेना उचित होगा। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' की भूमिका में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त किया है—(१) बाहरी उपशाखा (२) बीच की उपशाखा और (३) भीतरी उपशाखा। इन तीनों उपशाखाओं के अन्तर्गत उन्होंने छः भाषा-समुदाय माना है। इन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—



ग्रियर्सन का आधार—डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी उपशाखा की भाषाओं में उच्चारण तथा व्याकरण सम्बन्धी कुछ समानताएँ ऐसी पायी जाती हैं जो भीतरी उपशाखा की भाषाओं से भिन्न हैं। प्रमुख उदाहरण के रूप में 'स' ध्वनि का भीतरी उपशाखा का उच्चारण, बाहरी उपशाखा की कुछ भाषाओं 'श' और पश्चिमोत्तरी समुदाय की कुछ भाषाओं में 'ह' हो जाता है।

संज्ञा शब्दों के रूप में भी इन दोनों उप समुदायों में भेद मिलता है। बाहरी उपशाखा की भाषाओं में योगात्मक और भीतरी में अयोगात्मक भाषाओं के तत्व मिलते है। उदाहरणार्थ हिन्दी में 'का' 'के' 'को' आदि सम्बन्ध कारक के चिह्न शब्द के साथ अलग से लगते हैं पर बंगाली में शब्द के साथ ही 'एर' विभक्ति लग कर यह कार्य करती हैं—जैसे 'बंगला साहित्येर इतिहास'। क्रिया रूपों में भी इन समुदायों में अन्तर मिलता है।

चैटर्जी का वर्गीकरण—डॉ० ग्रियर्सन के उपर्युक्त वर्गीकरण को डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक माना है। उनके अनुसार बाहरी और भीतरी उपशाखाओं की विभिन्न भाषाओं की ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ एक सी नहीं हैं। 'स' का उच्चारण गुजराती में भी 'श' के रूप में प्राप्त होता है जो भीतरी समुदाय की भाषा है। इन बहुत से कारणों के अतिरिक्त उन्होंने यह भी आपत्ति की है कि योगात्मक और अयोगात्मक प्रकृति के कारण एक वर्ग को बाहरी और दूसरे को भीतरी कहना भी अवैज्ञानिक है। अतः उन्होंने अपना स्वाभाविक वर्गीकरण क्षेत्रीय आधार पर निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया:—

(क) उदीच्य (उत्तरी)
  (१) सिंधी
  (२) लहँदा
  (३) पंजाबी
(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)
  (४) गुजराती
(ग) मध्य देशीय
  (५) राजस्थानी
  (६) पश्चिमी हिन्दी }
  (७) पूर्वी हिन्दी }
  (८) बिहारी
  (९) पहाड़ी

(घ) प्राच्य (पूर्वी)

(१०) उड़िया

(११) बंगाली

(१२) असमी

(ङ) दक्षिणात्य (दक्षिणी)

(१३) मराठी

संक्षिप्त परिचय

(१) सिंधी—यह सिंध प्रदेश की भाषा है जो अब पाकिस्तान में है। इस भाषा की पाँच प्रधान बोलियाँ हैं जिसमें प्रदेश के बीच के भाग की 'विजोली' बोली का साहित्यिक रूप सिंधी है। सिंध को ही प्राचीन व्राचड देश कहा जाता था, यहाँ की प्राकृत और अपभ्रंश से ही सिंधी की उत्पत्ति मानी जाती है। सिंधी के लेखन में फारसी लिपि का ही एक बिगड़ा हुआ रूप प्रयुक्त होता है। दैनिक व्यवहार में देवनागरी लिपि में भी इसे लिखते हैं। इस भाषा में साहित्य अत्यल्प है।

(२) लहँदा—यह पुराने पंजाव प्रदेश के पश्चिमी भाग की भाषा है जो अब पाकिस्तान में है। इसी भू-भाग में प्राचीन कैकय देश पड़ता था जहाँ पैशाची प्राकृत और कैकय अपभ्रंश का प्रचार था। इसी कैकय अपभ्रंश से लहँदा की उत्पत्ति मानी जाती है। लहँदा में कोई विशेष साहित्य नहीं है। वास्तव में यह कई मिलती-जुलती हुई बोलियों के समुच्चय का ही नाम है। इसकी अपनी एक प्राचीन लिपि भी है, पर आजकल इसे मुख्यतः फारसी लिपि में ही लिखा जाता है।

(३) पंजाबी—भारत का वर्तमान पंजाब राज्य पंजावी भाषा का क्षेत्र है। पंजाब का कुछ पश्चिमी भाग पाकिस्तान में चला गया है। शेष पंजाव में हिन्दी और पंजावी दोनों भाषा बोलने वाले घुलमिल कर बसे थे। अब बोलने वालों के अधिक प्रतिशत के आधार पर पंजावी बहुल क्षेत्र का पंजाब और हिन्दी बहुल क्षेत्र का हरियाणा राज्य बना दिया गया है। पंजाबी में प्राचीन साहित्य कम है। प्राचीन पंजाबी हिन्दी से पृथक कोई भाषा नहीं कही जा सकती। गुरु ग्रन्थ

साहब की भाषा इसके प्रमाण रूप में ली जा सकती है। पंजाबी की भी प्राचीन लिपि लहँदा की ही प्राचीन लिपि थी, पर गुरु अंगद देव ने नागरी लिपि की सहायता से उस लिपि में सुधार करके नवीन गुरुमुखी लिपि को बनाया जिसमें अब पंजाबी लिखी जाती है। इस भाषा की एक बोली 'डोगरी' है जो जम्मू में बोली जाती है तथा अपनी टक्करी लिपि में लिखी जाती है।

(४) गुजराती—गुजराती गुजरात राज्य की भाषा है। यह एक व्यावसायिक जाति से सम्बन्धित होने के कारण पश्चिमी भारत की व्यवसाय की प्रमुख भाषा हो गयी है। गुजराती साहित्य-विस्तार की दृष्टि से तो नहीं पर श्रेष्ठता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। गुजराती के आदि कवि नरसी मेहता का भारतीय भक्ति काव्य में उच्च स्थान है। रमनलाल देसाई और क० मा० मुंशी के उपन्यास आधुनिक कथा साहित्य में किसी भी भारतीय भाषा से टक्कर ले सकते हैं। पहले गुजराती देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती थी, पर अब उसके लिये देवनागरी का एक अन्य रूप प्रचलित हो गया है जो कैथी से मिलता-जुलता है और उसे गुजराती लिपि कहते हैं।

(५) राजस्थानी—राजस्थान की बोलियों के समूह को सामूहिक रूप से 'राजस्थानी' कहा जाता है। राजस्थानी स्वयं कोई साहित्यिक भाषा नहीं है प्रत्युत हिन्दी की ही एक उपभाषा है। इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही है। राजस्थानी की चार प्रमुख बोलियाँ हैं: मारवाड़ी, मेवाती, मालवी और जयपुरी। प्राचीन राजस्थानी साहित्य डिंगल या पुरानी मारवाड़ी में है। मारवाड़ी की अपनी एक महाजनी लिपि भी है। मारवाड़ियों के साथ यह लिपि उत्तर भारत में फैली। मुद्रण तथा अन्य व्यवहारों में राजस्थानी क्षेत्र में देवनागरी लिपि का ही प्रचार है।

(६) पश्चिमी हिन्दी—डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी को दो उपभाषाओं में विभाजित किया है—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी में पांच बोलियाँ आती हैं—ब्रजभाषा, खड़ी बोली, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली। इन पर अलग से विस्तृत विचार होगा।

(७) पूर्वी हिन्दी—पूर्वी हिन्दी उपभाषा वर्ग में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ आती हैं। इन पर भी अलग से आगे विचार होगा।

(८) बिहारी--उत्पत्ति की दृष्टि से बिहारी मागधी अपभ्रंश से सम्बद्ध होने के कारण बंगाली, असमी, उड़िया की बहन है। बिहारी की तीन प्रधान बोलियाँ हैं--मैथिली, मगही और भोजपुरी। इन क्षेत्रों की साहित्यिक भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी है। कुछ विद्वान बिहारी को हिन्दी की ही एक उपभाषा मानते हैं। इस क्षेत्र की भाषाओं की लिपि देवनागरी ही है। कैथी लिपि का भी लेखन में प्रचार है। बहुत सी प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ कैथी लिपि में प्राप्त होती हैं। मैथिली की अपनी एक मैथिली लिपि भी है। बिहारी का इन प्रधान बोलियों के अतिरिक्त इन्हीं क्षेत्रों में अन्य कई बोलियों की स्थिति मानी जाने लगी है जैसे अंगिका, बज्जिका आदि।

(९) पहाड़ी—हिमाचल के दक्षिणी भाग में नैपाल से शिमला तक पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं जिनके तीन प्रमुख रूप हैं--पूर्वी-पहाड़ी या नैपाली, मध्य पहाड़ी जिसमें कमायूँनी और गढ़वाली दो बोलियाँ प्रधान हैं और पश्चिमी पहाड़ी जो शिमला के निकटवर्ती भाग में बोली जाती है। इनमें नैपाली में ही कुछ साहित्य मिलता है और उसकी लिपि देवनागरी है। पहाड़ी भी हिन्दी की उपभाषा मानी जाती है।

(१०) उड़िया—यह उड़ीसा राज्य की भाषा है जिसे प्राचीन समय में उत्कल देश कहते थे। उड़िया का बंगाली से बहुत साम्य है। उड़िया की अपनी लिपि भी है। इसमें साहित्य भी मिलता है। इसका प्राचीन साहित्य विशेषतः कृष्ण-कथा सम्बन्धित है।

(११) बंगाली—यह भाषा पूर्वी और पश्चिमी बंगाल में बोली जाती है। पूर्वी बंगाल का क्षेत्र अब स्वतंत्र बँगला देश राज्य हो गया है। बंगाली के विभिन्न अंचलों मे बोलचाल के अलग-अलग रूप मिलते हैं। इन्हीं में से एक रूप साहित्यिक बंगाली के लिए स्वीकार कर लिया गया है। इस भाषा का साहित्य बड़ा समृद्ध है। काव्य, कथा, ज्ञान-विज्ञान सभी दृष्टियों से बंगाली इस परिवार की महत्वपूर्ण भाषा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र, शरत्चन्द्र आदि ने आधुनिक बंगाली साहित्य का समादर विश्व में बढ़ाया है। बंगाली की अपनी स्वतंत्र लिपि है जो पुरानी देवनागरी का ही रूपान्तर है।

(१२) असमी—यह असम राज्य की भाषा है। यह भी बंगाली से बहुत मिलती-जुलती है। असमी की लिपि कुछ सामान्य संशोधनों से युक्त बंगाली लिपि ही है। असमी में प्राचीन साहित्य भी प्राप्त होता है। असमी में ऐतिहासिक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। साधु शंकर देव आदि वैष्णव भक्तों ने अपने गीतों और भाषा-नाटकों से इस भाषा को अलंकृत किया है।

(१३) मराठी—प्राचीन महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी उत्पन्न हुयी है। वर्तमान महाराष्ट्र राज्य इस भाषा का क्षेत्र है जिसमें प्राचीन महाराष्ट्र और विदर्भ के क्षेत्र आते हैं। मराठी की तीन मुख्य बोलियाँ हैं जिसमें पूना के निकट बोली जाने वाली बोली का ही साहित्यिक मराठी है। मराठी की प्रचलित लिपि देवनागरी लिपि ही है, पर उसकी एक अपनी 'मोड़ी' नामक लिपि भी है जिसके आविष्कर्ता महाराज शिवाजी के मन्त्री बालाजी आवाजो थे। मराठी पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है। इसका साहित्य भी पर्याप्त समुन्नत है।

अध्याय ४

हिन्दी, उसकी विभाषायें, उपभाषायें एवं बोलियाँ

'हिन्दी' शब्द का अर्थ—'हिन्दी' फारसी का शब्द है। संस्कृत की 'स' ध्वनि भारत के पश्चिमोत्तर की फारसी आदि भाषाओं में 'ह' में परिवर्तित हो जाती है। अतः भारत में प्रवेश करने वाली पश्चिमोत्तरी जातियों ने 'सिन्धु' नदी को 'हिन्दु' के रूप में पुकारा और इसके पूरब के भूभाग को 'हिन्द' कहा। इसी से 'हिन्दी' और 'हिन्दू' आदि शब्द भी बने। फारसी 'हिन्दी' शब्द का अर्थ—'हिन्द' (भारत) से सम्बन्ध रखने वाले'। इस प्रकार 'हिन्दी' शब्द का एक अर्थ 'भारतीय' के लिए भी विकसित हुआ। जैसे चीन से चीनी, जापान से जापानी शब्द वहाँ के निवासियों के बोधक बने, उसी प्रकार हिन्दी शब्द भी हिन्द से बना। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भी हुआ। जैसे—

'हिन्दी' हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।

—इकबाल।

भारत के निवासियों के लिए विदेशियों में 'हिन्दू' शब्द रूढ़ हो गया और वही आगे चलकर विशेष प्रचलित हुआ। अतः 'हिन्दी' शब्द यहाँ के निवासियों की भाषा के लिये स्वीकार हुआ।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का अर्थ 'हिन्द के निवासियों की भाषा' होगा। इस दृष्टि से भारत की सभी आर्य, द्रविड़ एवं जन जातियों की भाषायें इस शब्द की सीमा में समाहित हो जायेंगी, किन्तु इतने विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कभी नहीं किया। इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है—(१) सीमित अर्थ और (२) विस्तृत अर्थ।

सीमित अर्थ—आजकल हम 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्दी की वर्तमान साहित्यिक बोली अर्थात् खड़ी बोली के लिए करते हैं। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है अथवा हिन्दी शिक्षा और परीक्षा का माध्यम है, इन वाक्यों में हिन्दी से तात्पर्य खड़ी बोली के वर्तमान साहित्यिक रूप से है। वैसे हिन्दी का रूप व्यापक

है और उसमें कई बोलियाँ सम्मिलित हैं, पर वर्तमान भारत की आवश्यकतानुसार भाषिक एकरूपता की दृष्टि से हिन्दी के इसी रूप को परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) रूप में माना गया है। हिन्दी शब्द के व्यापक प्रयोग से पृथक् करने के लिए इसे परिनिष्ठित हिन्दी, स्टैण्डर्ड हिन्दी या उच्च हिन्दी आदि कहते हैं।

विस्तृत अर्थ—व्यापक अर्थ में हिन्दी उस भाषा को कहते है जो उत्तर में हिमालय की उपत्यका से लेकर दक्षिण के राजस्थान और मध्यप्रदेश तक तथा पश्चिम में दिल्ली और पंजाब से लेकर पूरब में बिहार तक बोली जाती है। इतने व्यापक क्षेत्र में हिन्दी का कोई एक रूप प्रचलित नहीं है। कहा जाता है कि 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी'। इस दृष्टि से भी इतने विशाल भूखण्ड में अनेक बोलियों का स्थान होना स्वाभाविक ही है। इस बोलियों में उच्चारण सम्बन्धी अन्तर है, व्याकरण सम्बन्धी कुछ भिन्नतायें भी हैं पर ये सभी बोलियाँ हिन्दी-तरु की शाखायें ही हैं। इनके अपने-अपने शब्द समूह कम ही हैं, एक ही शब्द के उच्चारण—भेद अवश्य मिलते हैं। जैसे खड़ी बोली में 'घोड़ा', ब्रजभाषा में 'घोड़ो' और अवधी में 'घोड़', भोजपुरी में 'घोड़वा' या 'घोड़ना' एक शब्द के रूप हैं। प्रसूतिगृह के लिए भोजपुरी में 'सउरि' और व्रजभाषा में 'सोवरि' में केवल उच्चारण भेद है। व्याकरण की दृष्टि से भी हिन्दी की इन बोलियों में इतना अधिक अन्तर नहीं मिलता है कि इन्हें पृथक् भाषायें माना जाय। सूरसागर और रामचरितमानस की भाषा को, कोई भी हिन्दी भाषी बिना ब्रजभाषा और अवधी का व्याकरण पढ़े, सरलता से समझ लेता है। अतः विद्वानों ने हिन्दी के व्यापक परिवेश में दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि की विभिन्न बोलियों को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में मतान्तर भी है जिस पर आगे विचार होगा।

हिन्दी की शैलियाँ या विभाषाएँ—'विभाषा' शब्द का प्रयोग 'बोली' के अर्थ में भी किया जाता है, पर यहाँ उसे समानान्तर भाषिक शैलियों के लिए प्रयुक्त किया गया है। वर्तमान हिन्दी, जिसे खड़ी बोली कह सकते हैं, तीन भाषिक शैलियों में साधारणतः लिखी जाती है, जिन्हें वर्तमान हिन्दी की विभाषाएँ कहना उपयुक्त ही होगा—(१) खड़ीबोली हिन्दी (२) खड़ीबोली उर्दू

(३) हिन्दुस्तानी। इनके अतिरिक्त दक्खिनी हिन्दी और रेख्ता भी इसी भाषा की शैलियाँ रही हैं।

खड़ीबोली हिन्दी—हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल में हिन्दी गद्य का प्रारभ हुआ और उसके लिये खड़ी बोली स्वीकार हुई। धीरे-धीरे काव्य में भी खड़ी बोली का ग्रहण हुआ। प्रारंभिक गद्य लेखकों में ही उसकी शैली को लेकर मतभेद हुआ। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने अरबी-फारसी शब्दों से युक्त 'आमफ़हम' और 'खासपसंद' हिन्दी गद्य शैली का और राजा लक्ष्मण सिंह ने सस्कृत शब्द-युक्त हिन्दी गद्य शैली का पक्ष ग्रहण किया। वास्तव में ये दोनों रूप हिन्दी के ही हैं पर एक शैली के पीछे इस्लाम और दूसरे के पीछे हिन्दू भावना के कारण धीरे-धीरे एक उर्दू और दूसरी हिन्दी वन गयी। नागरी लिपि में लिखी जाने वाली साहित्यिक खड़ी बोली को साधारणतः हिन्दी कहा गया।

खड़ीबोली उर्दू—भारत में मुसलमान शासकों ने आपसी व्यवहार के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया वह उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। उर्दू का अर्थ बाजार होता है। अतः यह अनुमान किया गया कि बाजार में हिन्दू जनता और मुसलमान लोगों के विचार-विनिमय की जो भाषा विकसित हुई, वह उर्दू है। कुछ अन्य व्यक्तियों का यह मत है कि 'उर्दू-ए-मुअल्ला' दिल्ली के किले या राजमहलों में गढ़ी हुई एक कृत्रिम भाषा है। जो भी हो इतना निश्चित है कि उर्दू का भी मूलाधार खड़ी बोली ही है। इसमें अरबी-फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग और फारसी लिपि में लिखने के वैशिष्ट्य को समाप्त कर दिया जाय तो इसमें और खड़ी बोली हिन्दी में कोई अन्तर नहीं मिलेगा। व्याकरण की दृष्टि से भी खड़ी-बोली हिन्दी और उर्दू में नगण्य अन्तर है। 'मुझे अवसर नहीं मिला' यदि हिन्दी वाक्य कहा जाएगा तो 'मुझे मौका नहीं मिला' उर्दू वाक्य कहा जाएगा। यह अन्तर हिन्दी की विभिन्न बोलियों के परस्पर के अन्तर से कम है। यही कारण है कि वहुत से विद्वान उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा न मानकर साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं।

हिन्दुस्तानी—यह नाम योरोपीय लोगों का दिया हुआ है। प्रारंभ में इसका तात्पर्य उर्दू ही समझा जाता था, पर जब भारत की राष्ट्रभाषा के लिये हिन्दी

या उर्दू का प्रश्न उठा तो कुछ मध्यमार्गी लोगों ने दोनों के मिश्रित रूप को 'हिन्दुस्तानो' का नाम दिया। हिन्दुस्तानी का अभिप्राय है उर्दू और हिन्दी शब्दों से मिश्रित प्रचलित और सर्वग्राह्य भाषा। पर इस प्रकार को जिस भाषा का प्रचलन प्रारम्भ करने का प्रयास किया गया, उसकी प्रवृत्ति उर्दू की ओर अधिक थी। अतः इसका राष्ट्रभाषा के रूप में गांधी जी और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जैसे लोगों के समर्थन के बाद भी तीव्र विरोध हुआ और यह बनावटी भाषा प्रचलित भी न हो सकी। इसे भी उर्दू की ही भाँति साहित्यिक हिन्दी की एक शैली माना जा सकता है।

दक्खिनी हिन्दी—मुहम्मद तुगलक के दिल्ली से दौलताबाद राजधानी बद-लने पर बहुत से मुसलमान दक्षिण में जाकर बस गये। दक्षिण में बहमनी राज्य और तदनन्तर बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर तथा बरार की मुसलमानी रियासतों में उत्तर भारतीय मुसलमानों के साथ गयी खड़ी बोली ने फारसी शब्दों के मेल से एक नया रूप ग्रहण किया जिसे बाद में 'दक्खिनी हिन्दी' या दक्खिनी उर्दू कहा गया। दकन में प्रचलित इस भाषा के लिये 'दकनी' भी कहा गया जो अधिक उपयुक्त नाम प्रतीत होता है।

इस भाषा का विकास तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसे दक्षिण की रियासतों में राजकाज की भाषा भी होने का गौरव प्राप्त हुआ और राजाश्रय के कारण इसमें उस काल में प्रभूत साहित्य की रचना भी हुई। साहित्यिक दृष्टि से इसमें सूफी काव्य रचनाएं विशेष रूप से लिखी गयीं। ख्वाजाबंदा नमाज, शेख बहाउद्दीन 'बाजन', शेख बुरहानुद्दीन 'जानम' आदि इसके प्रसिद्ध रचनाकार हैं जिन्होंने सिद्धान्तपरक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। दकनी में सूफी प्रेमाख्यानों की भी एक प्रशस्त परम्परा मिलती है। निजामी का 'कदमराव न पदम' मुल्ला वजही की 'कुतुब मुश्तरी' गवासी की 'सैफुलमुलूक व बदीउल जमाल' नुसरती की 'गुलशने इश्क' तथा हाशमी की 'युसुफ जुलेखा' इस शैली की महत्वपूर्ण प्रेमा-ख्यानक कृतियाँ हैं।

रेख्ता—दकनी का ही विकास आगे चल कर 'रेख्ता' के रूप में हुआ। इसी का विकसित रूप आगे चलकर 'उर्दू' हुआ। १८ वीं शताब्दी में दकनी के

प्रसिद्ध कवि वली ने रेख्ता की नवीन काव्य-शैली को जन्म दिया। वली ने उत्तरी भारत में आकर इसका प्रचार किया।

हिन्दी की उप भाषाएँ—डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों में आठ की गणना की है और इन्हें दो प्रधान वर्गों में बाँटा है। एक वर्ग को उन्होंने पश्चिमी हिन्दी कहा है और दूसरे को पूर्वी हिन्दी। उनके अनुसार ये ही दो हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। उन्होंने पहाड़ी, बिहारी, राजस्थानी को अलग भाषाओं के रूप में स्वीकार किया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि कुछ विद्वानों का मत है कि ये तीन वर्ग भी हिन्दी के उपभाषा वर्ग ही हैं। इनमें बोली जाने वाली बोलियों के कुछ समूह हैं पर उन सभी का साहित्यिक रूप हिन्दी ही है। इन विभिन्न वर्गों की बोलियों का हिन्दी के परिनिष्ठित रूप से इतनी निकटता भी है कि इन्हें स्वतन्त्र भाषा न मानकर हिन्दी की उपभाषा मानना ही उपयुक्त है। इन प्रत्येक वर्गों में कई-कई बोलियों का समूह है जो परस्पर एक दूसरे के निकट हैं तथा भाषिक एकरूपता के कारण उन्हें एक उपभाषा कहा भी जा सकता है। हिन्दी की प्रधान पाँच उपभाषाएँ और उनके अन्तर्गत आने वाली प्रमुख बोलियाँ इस प्रकार हैं :—

१. पश्चिमी हिन्दी—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजी, बुन्देली।
२. पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।
३. बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी।
४. राजस्थानी—मारवाड़ी, मालवी, मेवाती, जयपुरी, शेखावटी।
५. पहाड़ी—पूर्वी पहाड़ी (नैपाली), मध्य पहाड़ी, (कमयूँनी, गढ़वाली) पश्चिमी पहाड़ी।

हिन्दी की बोलियों का परिचय—

१. पश्चिमी हिन्दी उपभाषा वर्ग

खड़ी बोली—यह बोली रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरपुर, सहारनपुर, देहरादून आदि के मैदानी भाग के गाँवों में बोली जाती है। अम्बाला और पटियाला के पूर्वी भाग में भी यही बोली बोली जाती है। इसी बोली का साहित्यिक रूप वर्तमान हिन्दी के गद्य और पद्य में व्यवहृत होता है। यही आज

भारत की राजभाषा है। डॉ० ग्रियर्सन ने इसे 'वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी' कहा है। इसका खड़ी बोली नाम पड़ने के कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग इसे 'खड़ी' या माधुर्यहीन होने के कारण खड़ी बोली कहा जाना जानते हैं और कोई इसे 'खरी' (परिष्कृत) भाषा होने के कारण इसे खड़ी बोली मानते हैं।

खड़ी बोली के मुख्यतः दो साहित्यिक रूप मिलते हैं। जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुलता से होता है तथा जो देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, उसे हिन्दी कहते हैं और जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों की अधिकता रहती है तथा जो फारसी लिपि में लिखी जाती है उसे उर्दू कहते हैं। खड़ी बोली के प्रथम साहित्यिक रूप में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त से लेकर सुमित्रा-नन्दन पंत, जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, 'अज्ञेय' आदि सभी आधुनिक कवियों की कविताएँ एवं सम्पूर्ण आधुनिक गद्य—प्रेमचन्द आदि के उपन्यास, प्रसाद आदि के नाटक, गुलेरी आदि की कहानियाँ, रामचन्द्र शुक्ल आदि के निबन्ध और समीक्षाएँ—लिखा गया है। इसके द्वितीय साहित्यिक रूप में मीर, सौदा, गालिब, इकबाल, चकवस्त आदि की कविताएँ तथा उर्दू का सम्पूर्ण गद्य साहित्य लिखा गया है।

ब्रजभाषा—ब्रजभाषा का केन्द्र मथुरा है जो प्राचीन शूरसेन जनपद की राजधानी थी। इसका क्षेत्र आगरा, मथुरा, अलीगढ़ से मैनपुरी-एटा से लेकर धौलपुर तक है। भरतपुर और ग्वालियर तक इस बोली का विस्तार पाया जाता है पर उधर इस पर राजस्थानी और बुन्देली का विशेष प्रभाव दीख पड़ता है। प्राचीन साहित्य की प्रधान भाषा होने के कारण इस बोली का विशेष महत्व बढ़ा और इसी कारण आदरपूर्वक इसे ब्रजबोली न कह कर ब्रजभाषा कहा जाने लगा। ब्रजभाषा के बोलचाल और साहित्यिक रूप में अन्तर है। बोल-चाल का रूप तो क्षेत्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न मिलता है।

ब्रजभाषा हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल की प्रधान साहित्यिक भाषा थी। सूरदास का 'सूरसागर' इसकी सबसे महत्वपूर्ण रचना है। नन्ददास, हितहरिवंश आदि सभी कृष्णभक्त कवियों की रचनाएँ तथा चिन्तामणि, बिहारी,

देव आदि रीतिकालीन कवियों की रचनाएँ इसी में प्रस्तुत हुईं। आधुनिक काल के प्रारम्भ में जब खड़ी-बोली में गद्य का प्रारम्भ हो गया तब भी भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही थी।

बाँगरू—पंजाब के दक्षिण-पूर्वी भाग को बाँगर प्रदेश कहते थे। इस क्षेत्र की ग्रामीण बोली को बाँगरू कहते हैं। इसका दूसरा नाम जाटू या हरियाणी भी है। इसके क्षेत्र में दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, नाभा आदि आते हैं। यह ब्रजभाषा, राजस्थानी और पंजाबी के मध्यक्षेत्र की बोली है। अतः इसमें इन तीनों के शब्दों का प्रभाव और मिश्रण प्राप्त होता है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं प्राप्त होता है।

कन्नौजी—कन्नौजी का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी बोलियों के मध्य में पड़ता है। मध्यकाल की इन दो प्रधान बोलियों से सटे होने के कारण इसमें विशेष साहित्य रचना न हो सकी। इस क्षेत्र में हुए कवियों की साहित्यिक भाषा ब्रज-भाषा ही थी। इस बोली का मुख्य केन्द्र फर्रुखाबाद जिला है। वैसे यह इटावा से प्रयाग जिले की सीमा तक के गाँवों में बोली जाती है। इसके क्षेत्र में इटावा, हरदोई, फर्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, पीलीभीत और कानपुर आदि जिले आते हैं। यह बोली ब्रजभाषा से बहुत मिलती-जुलती है।

बुन्देली—ब्रज क्षेत्र के दक्षिणी छोर में बुन्देलखण्ड के गाँवों की बोली बुन्देली है। यह बोली अपने शुद्ध रूप में झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, सागर, नरसिंहपुर, सिवनी और होशंगाबाद में बोली जाती है। इसका मिश्रित रूप पन्ना, चरखारी, दतिया, दमोह, छिन्दवाड़ा आदि के कुछ भागों में भी बोला जाता है। प्राचीन काल में बुन्देलखण्ड एक अच्छा साहित्यिक केन्द्र था, पर यहाँ के कवियों की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही थी। इस क्षेत्र से सम्बन्धित कवियों की ब्रजभाषा पर बुन्देली का प्रभाव दीख पड़ता है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं है।

२. पूर्वी हिन्दी उपभाषा वर्ग

अवधी—हरदोई को छोड़कर सम्पूर्ण अवध की बोली है जिसमें लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर,

प्रतापगढ़, बाराबंकी जिले आते हैं। इसके अतिरिक्त इस बोली का प्रसार-क्षेत्र इलाहाबाद, कानपुर, फतेहपुर, मिर्जापुर और जौनपुर जिलों तक है। व्रजभाषा की भाँति मध्यकाल में दूसरी प्रमुख साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी की प्रतिष्ठा हुई। विशेषता गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के द्वारा अवधी के साहित्यिक रूप में निखर आया। गोसाईं जी के पूर्व भी मुल्लादाऊद के 'चंदायन', कुतुबन की 'मृगावती' और जायसी के 'पद्मावत' आदि के रूप में प्रचुर साहित्य अवधी में लिखा गया था। राम भक्ति शाखा के भक्त कवियों तथा प्रेम मार्गी सूफी कवियों की साहित्यिक भाषा अवधी ही है। अवधी का क्षेत्र भी विस्तृत है और इसके बोलने वालों की संख्या भी करोड़ों है। सभी दृष्टियों से यह हिन्दी की तीन प्रधान—खड़ी बोली, व्रजभाषा, अवधी—बोलियों में है।

बघेली—बघेली-खण्ड क्षेत्र से इस बोली का सम्बन्ध है। यह अवधी के क्षेत्र से दक्षिण में पड़ता है। इसका केन्द्र रीवाँ हैं। इसका प्रसार मध्यप्रदेश के दमोह, जवलपुर, मांडला, बालाघाट जिलों तक है। बघेली-क्षेत्र के कवियों की साहित्यिक भाषा अवधी ही थी। अतः इसमें विशेष साहित्य नहीं मिलता है। भाषा रूपों के अध्ययन से यह अवधी से अति समान होने के कारण अवधी की ही एक क्षेत्रीय बोली के रूप में भी मानी जाती है।

छत्तीसगढ़ी—मध्यप्रदेश के रायपुर, विलासपुर, नन्दगाँव, रायगढ़, खैरगढ़ सरगूजा, कोरिया आदि में बोली जाती हैं। पर इन क्षेत्रों में इस बोली के भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। इस बोली में साहित्य नही हैं।

३. बिहारी उपभाषा वर्ग

मैथिली—यह बोली उत्तरी विहार राज्य में बोली जाती है। गंगा के उत्तर चंपारन-सारन जिलों को छोड़कर सम्पूर्ण क्षेत्र इसी बोली का है। इसका केन्द्र दरभंगा है। इस बोली की अपनी एक प्राचीन लिपि मैथिली है। मैथिली में कुछ प्राचीन साहित्य भी मिलता है। जिसमें विद्यापति की पदावली प्रमुख है।

मगही—प्राचीन मगध जनपद से सम्बद्ध मागधी का ही अपभ्रंश रूप मगही है। यही बोली विहार राज्य में गंगा के दक्षिण भाग में पटना, गया तथा

हजारीबाग जिलों में बोली जाती है। इस बोली में कोई विशेष साहित्य नहीं है। इसकी अपनी एक लिपि भी है जिसे कैथी लिपि कहते हैं।

भोजपुरी—यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। इसका नाम बिहार के शाहाबाद जिले के एक गाँव भोजपुर के नाम पर पड़ा है, पर इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। पूर्वी उत्तरप्रदेश के बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर, जौनपुर, आजमगढ़, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती से लेकर बिहार के शाहाबाद, पलामू. राँची, सारन, चम्पारन जिलों तक यह बोली जाती है। इस बोली का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और बोलने वालों की संख्या भी करोड़ों में है पर इसमें साहित्य रचना नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यह है कि काशी जनपद की राजधानी सदैव हिन्दी के साहित्यिक रूपों को निखारने और सजाने में रुचि लेती रही। इधर भोजपुरी में कुछ नया साहित्य तथा पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं।

अंगिका—मैथिली बोली का ही एक रूप इधर 'अंगिका' के नाम से नवीन बोली के रूप में कहा जाने लगा है। मुंगेर और भागलपुर जिलों में यह बोली बोली जाती है। अंगिका नाम प्राचीन 'अंग' जनपद के आधार पर रखा गया।

वज्जिका—इसी प्रकार मुजफ्फरपुर के आस-पास की बोली को वज्जिका नाम दिया गया। यह प्राचीन वृजि या वज्जि जनपद से संबंधित थी।

४. राजस्थानी उपभाषा वर्ग

मारवाड़ी—मारवाड़ी, मेवाड़ी बोलियों को पश्चिमी राजस्थानी भी कहा जा सकता है। यह बोली जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा उदयपुर में बोली जाती है। इसके प्राचीन रूप को डिंगल भी कहते हैं जिसमें चारण आदि कवियों द्वारा लिखा हुआ प्रचुर साहित्य मिलता है।

मालवी—मालवा की बोली को मालवी कहते हैं। इसे दक्षिणी राजस्थानी भी कहा जा सकता है। इसका केन्द्र मध्यप्रदेश का इन्दौर माना जाता है। इस बोली में कोई विशेष साहित्य नहीं है।

मेवाती—उत्तरी राजस्थान की बोली मेवाती है। यह अलवर और पंजाब के गुड़गाँव जिले तक बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं हैं।

जयपुरी—राजस्थान के पूर्वी भाग में दो बोलियां बोली जाती हैं—जयपुरी और हाड़ौती। इनमें परस्पर अत्यधिक साम्य होने के कारण इनको जयपुरी के अन्तर्गत मानते हैं। इनका क्षेत्र जयपुर, कोटा और बूँदी है। इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा सदैव व्रजभाषा रही। अतः इन बोलियों में कोई विशेष साहित्य नहीं मिलता है।

शेखावटी—पूर्वोत्तर राजस्थान में इस बोली का क्षेत्र पड़ता है जिसमें सीकर तथा झुंझनू जिले पड़ते हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में इस नाम का उल्लेख किया है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं हैं।

५. पहाड़ी उपभाषा वर्ग

पूर्वी पहाड़ी—पूर्वी पहाड़ी बोली को नैपाली भी कहा जाता है। यह नैपाल की बोली है। इसे नैपाली, पर्वतिया, गुरखाली एवं खसकुरा भी कहते हैं। इसका केन्द्र काठमांडू है। नेपाल राज्य की राजभाषा का महत्व प्राप्त करने के कारण इसमें आधुनिक काल में पर्याप्त साहित्य रचना भी हुई है। पूर्वकाल में इस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा हिन्दी ही रही है।

मध्य पहाड़ी—मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत दो बोलियाँ आती हैं—कमायूँनी और गढ़वाली। कमायूँनी का क्षेत्र अल्मोड़ा, नैनीताल है तथा गढ़वाली का गढ़वाल तथा मसूरी का निकटवर्ती भाग है। इन दोनों ही बोलियों में पर्याप्त समानता के कारण इन्हें एक साथ मध्य पहाड़ी कहा जाता है। इसका कोई साहित्यिक महत्व नहीं है। इन क्षेत्रों में साहित्यिक हिन्दी पूर्णतः अपना ली गयी है। ये बोलियाँ ग्रामीण जनों की बोलचाल में प्रचलित हैं।

पश्चिमी पहाड़ी—पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत छोटी-छोटी तीस के लगभग बोलियाँ आती हैं। इनका कोई प्रधान या सर्वमान्य रूप नहीं है। ये बोलियाँ शिमला के निकटवर्ती पर्वतीय क्षेत्रों में बोली जाती हैं। इनमें प्रमुख बोलियाँ ये हैं—जौनसार-बावर प्रदेश की जौनसारी, शिमला की पर्वतीय बोली क्योंथली, कुल्लू क्षेत्र की कुलूई, चम्बा क्षेत्र की चंबाई बोली।

इस प्रकार व्यापक रूप से विचार करने पर उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, हरियाणा, दिल्ली आदि को मिलाकर एक विस्तृत क्षेत्र हिन्दी-प्रदेश के रूप में बनता है। इस क्षेत्र की समस्त उपभाषायें और बोलियाँ हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इन बोलियों में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। इसी कारण कुछ विद्वानों की दृष्टि में हिन्दी के अन्तर्गत केवल पश्चिमी हिन्दी की पाँच बोलियाँ—खड़ीबोली, ब्रजभाषा, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली को ही रखा जा सकता है। कुछ इनके अतिरिक्त केवल पूर्वी हिन्दी की अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी को हिन्दी की बोलियों के अन्तर्गत मानते हैं।



अध्याय ५

हिन्दी भाषा का विकास

साधारणतः १००० ई० के आस-पास से हिन्दी भाषा में साहित्यरचना का प्रारम्भ माना जाता है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपभ्रंश काव्य को भी 'पुरानी हिन्दी' कहते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन अपभ्रंश के विपुल साहित्य को हिन्दी के अन्तर्गत मानते हैं और इसी कारण वे हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ ७वीं शताब्दी से ही मानने के पक्ष में हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने एक लेख 'हिन्दी की बोलियाँ तथा प्राचीन जनपद' में हिन्दी की बोलियों के विकास, पर रोचक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार प्राचीन मध्यदेश के प्रसिद्ध सोलह जनपदों—काशी, कोशल, कुरु, पांचाल, मगध, विदेह, अग आदि—से हिन्दी की वर्तमान बोलियों के क्षेत्र में अद्भुत समानता प्राप्त होती है। संभव है कि वर्तमान हिन्दी की विभिन्न बोलियों के पूर्वरूप इन विभिन्न जनपदों की भाषा या बोली के रूप में रहे होंगे। हिन्दी को विभिन्न बोलियों का विकास शौरसेनी, अर्द्ध मागधी, मागधी आदि अपभ्रंशों से हुआ। अपभ्रंश काल के उपरान्त १००० ई० से वर्तमान काल तक हिन्दी के विकास को तीन कालों में बाँटा जा सकता है :

१. प्राचीन काल (१००० ई० से १५०० ई० तक)
२. मध्य काल (१५०० ई० से १८०० ई० तक)
३. आधुनिक काल (१८०० ई० से अब तक)

प्राचीन काल—प्राचीन काल में जब हिन्दी का प्रारंभ हुआ उस समय उत्तरी भारत के हिन्दू साम्राज्य अपने अंत की प्रतीक्षा कर रहे थे। दिल्ली, अजमेर, कन्नौज और महोबा के राजकेन्द्र अपने शौर्य के कारण प्रसिद्ध थे और इन राजदरबारों में साहित्य को भी समादर प्राप्त था। दिल्ली राज में चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो, अजमेर में 'बीसलदेव रासो', महोबा में जगनिक के 'आल्हा-खण्ड' की रचना हुई। कन्नौज में संस्कृत और प्राकृत की रचनायें हुईं पर हिन्दी की भी कुछ रचनायें इस राज्याश्रय में हुईं।

प्राचीन काल की सामग्री में कुछ पत्र, प्रलेख, शिलालेख आदि आते हैं जो इस काल सीमा में पड़ते हैं। इस प्रकार की सामग्री बहुत कम प्राप्त हुई हैं और जो कुछ प्राप्त हुई है उसका भाषिक दृष्टि से समुचित अध्ययन भी नहीं हो सका है। इस काल में प्रभूत अपभ्रंश साहित्य भी लिखा गया जो भाषा-प्रकृति की दृष्टि से अपभ्रंश की वस्तु है, पर प्राचीन हिन्दी के रूप-विकास के अध्ययन की दृष्टि से हिन्दी के लिये भी उपादेय है। इस काल में हिन्दी की अपनी रचनाओं के रूप में जो साहित्यिक कृतियाँ प्राप्त होती हैं उनमें चारण काव्य या रासो काव्य मुख्य हैं। पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो आदि की भाषा के प्राचीन रूपों के सम्बन्ध में विवाद है। परवर्ती हस्तलिखित पोथियों में इन रचनाओं की भाषा सरल और नवीन होती गई है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इन दोनों रचनाओं का प्राचीन प्रतियों के आधार पर वैज्ञानिक संपादन किया है जिनमें इनकी भाषिक प्राचीनता भी कुछ सुरक्षित मिलती है।

खड़ी बोली के प्राचीन रूप में काव्य रचना का प्रारंभ इसी काल में अमीर खुसरो, शर्फुद्दीन एहिया मनेरी, शेख फरीद आदि के दोहों के रूप में हुआ। इसे 'हिंदवी' कहा जाता था। इसी का एक रूप दक्षिण भारत की मुसलमानी रियासतों में विकसित हुआ जिसे 'दकनी' कहते हैं। इसका प्रारंभ १३२६ ई० के बाद होता है। इसे कुछ लोग दक्खिनी हिन्दी अथवा दक्खिनी उर्दू भी कहते हैं। इसी काल में विद्यापति ने मैथिली में अपनी पदावलियों की रचना की तथा मुल्लादाऊद ने अवधी में अपनी प्रेमाख्यानक कृति 'चंदायन' को प्रस्तुत किया। इस प्रकार हिन्दी भाषा के विकास के प्राचीन काल में ही इसकी विभिन्न प्राचीन बोलियों में साहित्य-रचना प्रारम्भ हो गयी।

मध्य काल—मध्य काल में अवधी तथा व्रजभाषा का साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रचुर विकास हुआ। अवधी को सर्वप्रथम सूफी कवियों ने अपने काव्य का माध्यम बनाया। ग्रामीण अवधी के शब्दों के साथ संस्कृत उद्गम के तद्भव शब्दों और उनके प्राकृत-अपभ्रंश रूपों के प्रयोग से उन्होंने अपनी भाषा का स्वरूप निर्माण किया। इस काल में कुतुबन की 'मृगावती', जायसी की 'पद्मावत', मंझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली' आदि सूफी प्रेम-काव्य अवधी

में प्रस्तुत हुये। इस भाषा में गोस्वामी तुलसीदास ने अपना 'रामचरितमानस' प्रस्तुत किया जो हिन्दी साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ माना जाता है। तुलसीदास की अन्य अवधी काव्य कृतियों के अतिरिक्त रामभक्ति शाखा के कुछ अन्य कवियों ने अवधी को अपनी काव्य-भाषा बनाया।

ब्रजभाषा को वैष्णव भक्त कवियों ने अपनाकर विशेष महत्व प्रदान किया। वल्लभ सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय आदि के वैष्णव कवियों और आचार्यों ने कृष्ण के जीवन और उनके लीला क्षेत्र की ही भाँति ब्रजभूमि की भाषा को भी महत्व प्रदान किया। ब्रजभाषा में सूरदास का 'सूरसागर' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तुलसीदास ने भी अपनी 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' आदि कुछ रचनाओं को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। इनके अलावा अष्टछाप के नन्ददास, परमानन्ददास आदि, हित-हरिवंश, चाचा वृन्दावनदास आदि अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य रचना करके उसे समृद्ध किया।

रीतिकालीन कवियों की काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही थी। चिन्तामणि, मतिराम, विहारी, देव, भूषण, भिखारीदास आदि ने अपनी काव्य कृतियों से ब्रजभाषा को अलंकृत किया। आधुनिक काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही अधिकार रहा। इस प्रकार सुदीर्घ काल तक ब्रजभाषा को हिन्दी-प्रदेश की काव्य भाषा होने का गौरव प्राप्त रहा।

ब्रजभाषा के बोल-चाल के रूप से कुछ भिन्न उसका साहित्यिक रूप विकसित हुआ। कृष्ण-भक्त कवियों की ब्रजभाषा और रीतिकालीन कवियों की ब्रजभाषा में भी अन्तर आता गया है।

मध्य काल में खड़ी बोली में साहित्य रचना नहीं हुई, प्रायः ऐसा माना जाता रहा है, पर इधर खोजों में इस बात के प्रमाण मिल रहे हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि खड़ी बोली में भी कुछ न कुछ काव्य रचना का प्रारंभ हो गया था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने 'कुतुबशतक' नामक एक रचना का संपादन किया है जिसकी भाषा को वे पुरानी खड़ी बोली और १५०० ई० के आस-पास की भाषा मानते हैं। इसी प्रकार की स्थिति अफजल पानीपती की रचना 'विकट कहानी' की भी है। खड़ी बोली का दकनी रूप ही दक्षिण में विकसित होता

गया और उसमें ख्वाजावंदा नमाज, वुरहानुद्दीन जानम, गवासी, मुकीमी, नुसरती, निजामी, वजही आदि कवियों की काव्य रचनाएँ मिलती हैं। खड़ी बोली उर्दू का विकास भी दकनी से ही हुआ और उसके आदि कवि वली माने जा सकते हैं। उत्तर भारत में उर्दू लखनऊ और दिल्ली के केन्द्रों में विकसित हुई और मीर, सौदा, गालिव, जौक, दाग आदि कवियों की रचनाओं से वह समृद्ध हुई और खड़ी बोली के इन तीनों रूपों—खड़ी वोली हिन्दी, खड़ी बोली उर्दू और दकनी—में भेद वढ़ता ही गया और इन्हें अव साधारणतः एक भाषा कहना और समझना भी कठिन हो गया है।

आधुनिक काल—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना करके अंग्रेजों ने खड़ी बोली गद्य निर्माण करने के सम्वन्ध में प्रयोग प्रारम्भ किया। लल्लूलाल ने यहीं से अपना 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' खड़ी बोली में प्रस्तुत भी किया। खड़ी बोली गद्य को प्रसारित करने में ईसाई मिशनरियों का योगदान रहा क्योंकि वे अपने धर्म-प्रचार के लिये इसी माध्यम से अपनी धर्मपुस्तिकायें प्रकाशित करती रहती थीं। प्रारम्भ में खड़ी बोली गद्य का जो स्वरूप सामने आया, उसके ऊपर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता था।

खड़ी बोली गद्य का प्रचार-प्रसार साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तथा उनके अन्य सहयोगी एवं समकालीन साहित्यकारों ने किया। धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा सनातन धर्म के प्रचारक श्री श्रद्धाराम फुल्लौरी आदि ने भी इसे प्रचारित किया। प्रारम्भ में खड़ी बोली में नाटक और निबन्धों की रचनायें हुयीं फिर उपन्यास, कहानी और अब तो उसमें अनेकानेक नवीन विधाएँ दृष्टिगत हो रही हैं। अब खड़ी बोली गद्य में वह लोच और रवानी आ गई है कि वह किसी भी विकसित भाषा के समकक्ष मानी जा सकती है।

गद्य के बाद भारतेन्दु युग के समाप्त होते-होते खड़ी बोली धीरे-धीरे काव्य की भी भाषा बन गई। भारतेन्दु आदि ने भी अपने नाटकों के गीतों में खड़ी बोली का व्यवहार प्रारम्भ कर दिया था। श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में

स्वतन्त्र काव्य रचनाएं कीं। धीरे-धीरे इसमें खण्डकाव्य और महाकाव्य लिखे जाने लगे। हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' के रूप में खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य प्रस्तुत किया। मैथिलीशरण गुप्त, जयशङ्कर प्रसाद, पंत, निराला, दिनकर, महादेवी वर्मा, अज्ञेय आदि ने इसी के माध्यम से अपनी श्रेष्ठ काव्य रचनाओं को प्रस्तुत किया है।

आज खड़ी बोली का साहित्यिक रूप ही हिन्दी कहा जाता है। यही हमारी राष्ट्रभाषा है। यही उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा की प्रान्तीय भाषा है तथा भारत की सम्पर्क भाषा भी यही रही है।

●

अध्याय ६

हिन्दी शब्द-समूह

किसी भाषा में दो तत्व प्रमुख होते हैं—शब्द समूह और व्याकरण। इन्हीं के भेद से एक और दूसरी भाषा में अन्तर भी होता है। इनमें भाषिक अन्तर की दृष्टि से व्याकरण को विशेष महत्व इस कारण दिया जाता है कि शब्द तो एक भाषा से दूसरी भाषा में स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते रहते हैं। योरोप की विभिन्न आधुनिक भाषाओं में रोमन और ग्रीक शब्द प्रचुरता से भरे हुये हैं पर वे उन सभी भाषाओं के अपने शब्द से हो गये हैं। हिन्दी में भी इसी प्रकार अनेक स्रोतों से शब्दों का आगम हुआ है और बड़े दूरवर्ती शब्द भी आज इस प्रकार हिन्दो में समा गये हैं कि सहसा यह विश्वास ही नहीं होता कि ये कहीं बाहर से आये हुये शब्द हैं। भाषाओं के द्वारा हम अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। अतः विभिन्न भाषा-भाषियों के सम्पर्क से अनेक शब्द एक दूसरे की भाषाओं में इधर-उधर आते-जाते रहते हैं। कलकत्ता में रहने वाले उत्तर-प्रदेश वासियों की हिन्दी में बङ्गाली के प्रचलित व्यवहार के बहुत से शब्द स्वाभाविक रूप में आ जाते हैं। इसी प्रकार संसार की सभी भाषाएँ शब्दों की दृष्टि से मिश्रित है और जो भाषा जितनी ही समुन्नत, व्यापक और व्यवहृत होती है, शब्दों की दृष्टि से वह उतनी ही मिश्रित भी होती है।

हिन्दी में पाये जाने वाले शब्दों को साधारणतः तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—

(१) भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द।

(२) भारतीय आर्येतर भाषाओं के शब्द।

(३) विदेशी भाषाओं के शब्द।

१. भारतीय आर्यभाषाओं के शब्द

भारतीय आर्यभाषाओं के जो शब्द हिन्दी में पाये जाते हैं, उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) तत्सम शब्द—भारतीय आर्यभाषाओं में प्राचीनतम स्थान संस्कृत का है। इसी से सम्पूर्ण भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुई हैं। अतः इसके शब्द हिन्दी तथा अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रचुरता से मिलते हैं। संस्कृत भाषा के शब्दों का जब अविकृत रूप में प्रयोग किया जाता है तो उन्हें हम तत्सम (= शुद्ध) शब्द कहते हैं। ऐसे शब्दों की बहुतायत साहित्यिक हिन्दी में प्राप्त होती है। संस्कृत, साहित्य, श्रेष्ठ, कृष्ण, विद्वान् आदि तत्सम शब्द हैं। इस प्रकार के असंख्य शब्द हिन्दी की रीढ़ के रूप में विद्यमान हैं। ये शब्द यद्यपि संस्कृत के हैं पर इसका ग्रहण हिन्दी में भली प्रकार हो गया है और हिन्दी व्याकरण से पूर्ण अनुशासित होकर अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं।

(ब) तद्भव शब्द—संस्कृत भाषा के वे शब्द, जिन्हें 'तद्भव' कहा गया है, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में अर्थात् प्राकृत और अपभ्रंश में बिगड़-कर अन्य रूपों से प्रयुक्त होने लगे थे। संस्कृत के ही मूल शब्दों का प्राकृत-अपभ्रंश में बिगड़ा हुआ रूप, जो हिन्दी में ग्रहण कर लिया गया है उन्हें तद्भव शब्द कहते हैं। जैसे 'कथा' शब्द तत्सम है, इसका तद्भव रूप 'कहा' या 'कहानी' बना। कृष्ण >कान्ह-कान्हा-कन्हाई-कन्हैया; शत्रुघ्न >शत्रुघन, सतरुहन; लक्ष्मण >लखन आदि। साधारणतः वे शब्द जो मूलसंस्कृत में नहीं प्रयुक्त हो रहे हैं पर उनकी व्युत्पत्ति किसी संस्कृत शब्द से निकल जाती है, उन्हें हम तद्भव कहते हैं। पर ऐसा भी सम्भव है कि किसी शब्द की व्युत्पत्ति हमें न मिल सके क्योंकि उस शब्द के प्राचीन संस्कृत रूप का व्यवहार लुप्त हो गया हो। वास्तव में ये तद्भव शब्द ही हिन्दी के वास्तविक शब्द कहे जा सकते हैं जो उसकी निजी सम्पत्ति हैं।

इनके अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं–बंगाली, मराठी, गुजराती आदि—के शब्दों का हिन्दी में मिश्रण बहुत कम हुआ है। यदि कुछ मिश्रण मिलता भी है, तो व्यापारिक नगरों के लोगों की बोलचाल की भाषा में वह अधिक मिलता है, साहित्यिक हिन्दी में कम।

२. भारतीय आर्येतर भाषाओं के शब्द

हिन्दी में भारतीय आर्य भाषाओं के शब्द ही प्रमुखता से हैं। आर्येतर भाषाओं में द्राविड़ परिवार की भाषाओं तथा कोल-मुण्डा आदि वनवासी जातियों

की भाषाओं के कुछ शब्द हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं जो अत्यधिक व्यवहार के कारण हिन्दी के अपने शब्द बन गये हैं। इस प्रकार के शब्दों की संख्या भी अत्यल्प है। प्राकृत वैयाकरण जब किसी शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के किसी शब्द से नहीं पाते थे तो वे इन्हें देशी अथवा अनार्य भाषाओं से आया हुआ मान लेते थे।

द्राविड़ भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में कुछ-कुछ मिलता है। हिन्दी का 'पिल्ला' शब्द द्राविड़ 'पिल्लै' ही है। द्राविड़ में 'पिल्लै' का अर्थ पुत्र होता है पर हिन्दी में 'पिल्ला' कुत्ते के बच्चे लिए प्रयुक्त होता है। द्राविड़ से ऐसे शब्द जिनका प्रयोग हिन्दी आदि उत्तरी भाषाओं में बुरे अर्थों में होता है किसी प्राचीन आर्य-द्राविड़ सङ्घर्ष के सूचक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार बीस-बीस की गणना के लिये 'कोड़ी' शब्द प्रचलित है। यह शब्द कोल भाषा से आया हुआ माना जाता है।

३. विदेशी भाषाओं के शब्द

भारत में कई सौ वर्षों तक विदेशी जातियों का शासन रहा। अतः उन जातियों की अपनी विदेशी भाषाओं के शब्दों का हिन्दी में आना स्वाभाविक था। इस प्रकार की शासक जातियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है और उनसे सम्बन्धित दो वर्गों की भाषाओं के शब्दों का आगमन भी हिन्दी में हुआ—(१) मुसलमानी भाषाओं के शब्द और (२) योरोपीय भाषाओं के शब्द।

(अ) मुसलमानी भाषाओं के शब्द—इन भाषाओं में अरबी, फारसी, तुर्की और पश्तो के शब्द प्रमुख रीति से आते हैं। १००० ई० के आस-पास से मुसलमानी जातियों का आक्रमण और उनका प्रभाव भारत पर प्रारम्भ हो गया। अतः उनके साथ उनकी भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में प्रवेश पाने लगे। चंद-बरदाई के 'पृथ्वीराजरासो', तुलसी के 'रामचरितमानस' और सूर के 'सूरसागर' में भी इन मुसलमानी भाषाओं से आये हुए शब्दों का प्रयोग मिलता है। अरबी फारसी के तो इतने शब्द हिन्दी में संस्थाओं, कर्मचारियों, वेश-भूषा, खान-पान आदि के नामों के रूप में मिलते हैं कि उनकी सूची बड़ी लम्बी होगी। मदर्सा, मकतब, मस्जिद, मुन्सिफ, मुहर्रिर, मुकदमा आदि इनके उदाहरण हैं। तुर्की भाषा के भी अनेक शब्द हिन्दी में आकर समरस हो गये हैं। जिनका अलगाव सम्भव नहीं है। जैसे आका (स्वामी), उजबक (मूर्ख), उर्दू, कैंची, चाकू,

चकमक, तोप, दारोगा, बहादुर, बीबी, बेगम, लाश आदि शब्द तुर्की उद्‌गम के हैं। पश्तों के शब्द उपर्युक्त भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा कम हैं पर इनका भी प्रयोग मिलता है। हिन्दी में एक जाति विशेष के लिये प्रयुक्त 'पठान' शब्द पश्तो का ही हैं। अरबी और तुर्की भाषाओं के शब्द हिन्दी फारसी के माध्यम से आये हैं।

(ब) योरोपीय भाषाओं के शब्द—योरोपीय जातियों का भारत में प्रवेश १५०० ई० के लगभग से ही प्रारम्भ हो जाता है कि किन्तु प्रारम्भ में ये समुद्र-तटीय भाग तक ही रह गये। अतः इनका व्यापक सम्पर्क हिन्दी क्षेत्र से नहीं आया। इस कारण प्राचीन हिन्दी में उनकी भाषाओं के शब्दों का भी सर्वथा अभाव मिलता है। पर जैसे-जैसे अँग्रेजों का शासन उत्तरी भारत में दृढ़ होता गया, हिन्दी पर अँग्रेजी तथा उसके माध्यम से कुछ अन्य योरोपीय भाषाओं का प्रभाव तथा उनके शब्दों का आना प्रारम्भ हो गया। हिन्दी में अँग्रेजो के शब्दों की संख्या भी पर्याप्त हैं, पर यह फारसी शब्दों से कम ही है। अँग्रेजी के पास, अफसर, अर्दली, अलबम, इंसपेक्टर, इस्टीमर, कलक्टर, गजट, दर्जन, फैशन, मनीबेग, स्टेशन, रेल, लालटेन आदि अनेक शब्द हिन्दी के अपने शब्द जैसे व्यवहृत होते हैं। भारत में पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी लोगों का प्रवेश भी हुआ था। इनकी भाषाओं के शब्द हिन्दी में कम ही आये क्योंकि इनका शासकीय सम्बन्ध हिन्दी-प्रदेश से नहीं था। पर कुछ शब्द इन भाषाओं के भी हिन्दी में आ गये हैं और उनका निर्द्वन्द्व प्रयोग हिन्दी में इस प्रकार होता है जैसे ये अपने ही शब्द हों। इस प्रकार के शब्दों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं।

पुर्तगाली शब्द—अनन्नास, अलमारी, अचार, आलपीन, इस्त्री, कमीज, कप्तान, गमला, गारद, गोभी, गोदान, तम्बाकू, तौलिया, पादरी, बाल्टी, बिस्कुट, मिस्त्री, मेज आदि।

डच शब्द—तुरुप, बम आदि।

फ्रांसीसी शब्द—कारतूस, कूपन, अँग्रेजी आदि।

इस प्रकार हिन्दी शब्द-समूह विभिन्न भारतीय और भारतेतर भाषाओं के शब्दों से युक्त है। विदेशी भाषाओं के असंख्य शब्दों को पचा कर हिन्दी ने अपने शब्द-भांडार को बढ़ाया है और उन्हें अपना बना लिया है।

अध्याय ७

लिपि का विकास और देवनागरी लिपि

लिपि की उत्पत्ति भाषा के जन्म के पर्याप्त पश्चात् हुई होगी। पहले मनुष्य ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का निर्माण किया होगा और हजारों वर्षों तक वह भाषा मौखिक रूप में चलती रही होगी। इसीलिये प्राचीन काल में मनुष्य का ज्ञान मुखस्थ विद्या के रूप में मौखिक परम्परा से पीढ़ी प्रति पीढ़ी सुरक्षित चलता रहता था। ज्ञान के संरक्षण का मौखिक आधार अस्थायी होने के कारण मानव ने उसे अधिक दिनों तक सुरक्षित रखने के आधार की खोज प्रारम्भ की होगी और उसकी इस खोज की चरम उपलब्धि लिपि है।

लिपि का निर्माण मनुष्य ने सहसा ही नहीं कर लिया। प्राचीन प्रथाओं और पुरातात्विक सामग्रियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि लिपि के निर्माण करने के मार्ग में मनुष्य को कई सीढ़ियों को पार करना पड़ा। तब उसने उस माध्यम के निर्माण में सफलता प्राप्त हुई जिससे भाषा समय और स्थान की सीमाओं को पार करके सुरक्षित रहने का साधन प्राप्त कर सकी। विश्व की लिपियों के क्रमिक विकास की पृष्ठभुमि का अध्ययन इस दृष्टि से मनोरंजक और उपयोगी होगा।

लेखन कला की पृष्ठभूमि

अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए लिपि की उत्पत्ति के के पूर्व मनुष्य जिन साधनों को प्रयोग में लाता रहा है उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तर चित्र (Rock Pictures)—डेविड डिरिंजर नामक लिपिशास्त्री ने २०,००० ई० पू० से १०,००० ई० पू० तक के प्रस्तर शिलाओं पर अंकित कुछ चित्रों का प्रतिचित्र प्रस्तुत करते हुए यह बताया है कि प्राचीन काल में मनुष्य अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए ऐसे ही स्थूल चित्रों का प्रयोग करता था। इन चित्रों से स्थूल अभिव्यक्तियाँ तो सम्भव थीं किन्तु इनसे भावों या विचारों की कोई क्रमवद्ध शृंखला नहीं प्रस्तुत की जा सकती थी।

(२) स्मृति चिह्न (Memory Images)—किसी बात को याद करने के लिये रूमाल में गाँठ लगा लेने की प्रथा आज भी गाँवों में प्रचलित मिलती है। गाँठ बाँधने की एक प्रथा फ्रांस की 'कुइपु-प्रथा' के रूप में पाई जाती है। इसमें दो फीट की एक लम्बी रस्सी में विभिन्न रंगों, विभिन्न लम्बाई और मोटाई के कई सूत्र लटकाये जाते हैं। साधारणतः इसका उपयोग किसी वस्तु की संख्या याद करने के लिए किया जाता है, पर कभी-कभी इससे ऐतिहासिक घटनाओं का भी स्मरण किया जाता है। वर्षगांठ की प्रथा भी इसी प्रकार की एक रस्सी में प्रति वर्ष की पूर्ति पर एक गाँठ लगाई जाती है। इस प्रकार की असंख्य प्रथायें प्राचीन काल में विभिन्न देशों में प्रचलित मिलती हैं, जिन्हें हम स्मृति संकेत कह सकते हैं। इन रूपों में यह दिखाई देता है कि प्राचीन काल से ही मानव एक संवहनीय साधन की खोज में था जो भाषा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक और एक काल से दूसरे काल तक ले जा सके। इन्हीं आदिम प्रयासों में से धीरे-धीरे मानव ने लिपि को जन्म दिया और वह विकास के कुछ चरणों को पार करते हुए अपने वर्तमान रूप तक पहुँच सका।

लिपि के विकास की अवस्थाएँ

लिपि का विकास आदिम मानवों द्वारा बनाये गये चित्रों से हुआ जिनको उन लोगों ने अपने स्थूल भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रस्तुत किया था। इसके विकास की साधारणतः निम्नलिखित अवस्थायें मानी जाती हैं—

(१) चित्र लिपि (Pictography)—प्राचीन शिला-चित्रों द्वारा मनुष्य केवल स्थूल अभिव्यक्तियाँ कर सकता था, पर उसी का विकसित रूप चित्र लिपि के रूप में आया जिसमें चित्रों के माध्यम से मनुष्य अपने विचारों एवं भावों का अर्थबोध भी कराने में समर्थ हुआ। लेख के द्वारा अपने भावों और विचारों का दूसरों को अर्थ-बोध कराने के प्रथम माध्यम के रूप में चित्र लिपि का स्थान माना जाता हैं। चीनी लिपि में चित्रलिपि के बहुत से चिह्न उसके शब्दसंकेतों के रूप में प्राप्त होता है। इस लिपि के द्वारा कथा भी प्रकट की जा सकती थी पर ध्वनियाँ इसके द्वारा नहीं अंकित की जा सकतीं। इसीलिये चित्र-लिपि को संकेतात्मक लिपि कहा गया है, ध्वन्यात्मक नहीं। मिस्र की लिपि में

भी चित्रलिपि के संकेत प्राप्त होते हैं। आधुनिक काल के विज्ञापनों में बनने वाले चित्र, प्राकृतिक मानचित्रों के संकेत, लेखपाल के प्रलेखों के चिह्न तथा सड़क के स्तम्भ-चिह्न आदि प्राचीन चित्रलिपि के समान ही हैं। इनके द्वारा भावाभिव्यक्ति की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

(२) भावसंकेत-लिपि (Ideography)—चित्रलिपि की ही विकसित अवस्था भावसंकेत-लिपि है। इसमें आकर चित्रों का प्रयोग भावसंकेतों के रूप में किया जाने लगा। जैसे सूर्य के लिए चित्रलिपि में सूर्य का चित्र बनाया जाता था, पर अब उसके लिये एक वृत्त पर्याप्त था। इसी प्रकार आदमी के लिये धड़ की एक रेखा, टांग की दो रेखायें और सिर के लिए एक वृत्त पर्याप्त संकेत था। इन संकेतों के द्वारा स्थूल अभिव्यक्तियाँ ही नहीं भावों का भी बोध होने लगा था। जैसे दो स्त्रियों के चित्र से झगड़े का भाव, पर्वत और आदमी के साथ संकेत से संन्यास का भाव, सूर्य के संकेत से ताप की भावना का ग्रहण भी होने लगा। यदि चित्रलिपि से ही घिस कर बने हुए भाव संकेतों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व की लिपियाँ विकसित हुई होतीं तो उनमें बड़ी समानता होती क्योंकि चित्रों के ये भावसंकेत विभिन्न लिपियों में एक ही प्रकार के मिलते हैं।

(३) मध्यवर्ती लिपि (Transitional Script)—लिपि के विकास की इस स्थिति को बहुत से लिपिशास्त्री नहीं मानते हैं। डॉ० डिरिंजर का मत है कि मेसोपोटामिया, मिस्र, क्रीट आदि की कुछ लिपियों को भावसंकेत लिपि माना जाता है किन्तु यह उचित नहीं है। इनमें प्राचीन भावसंकेत भी पर्याप्त मात्रा में हैं पर नवीन ध्वनि-चिह्न (Phonetic Signs) भी इनमें प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की लिपियाँ विश्व में सहस्रों वर्षों तक चलती रहीं। अतः उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० स्मिथ के अनुसार इतने लम्बे काल तक चलती रहने वाली इस लिपि को केवल मध्यवर्ती लिपि कहना ठीक नहीं है प्रत्युत इसका नामकरण होना चाहिये। पर भावसंकेत लिपि और ध्वनि-चिह्नों के मध्यस्थिति की लिपि होने के कारण इसे मध्यवर्ती लिपि कहकर ही संतोष किया गया है।

(४) ध्वनि लिपि (Phonetic Script)—चित्रलिपि और भाव संकेत-लिपियाँ श्रमसाध्य थीं। इनके द्वारा विचार और भाव प्रकट करने में समय भी अधिक लगता था, कठिनाई भी होती थी, फिर भी पूर्ण रीति से भावाभिव्यक्ति

में वे सक्षम नहीं थीं। अतः मनुष्य ने कुछ ऐसे चिह्नों का निर्माण किया जो मनुष्य की कुछ ध्वनियों के प्रतीक थे। इन्हीं प्रतीकों के संयोजन से वह दुरूह भावों और विचारों को थोड़े चिह्नों के माध्यम से व्यक्त करने में समर्थ हो सका। लिपि के विकास की यह सर्वोच्च अवस्था है। ध्वनि-लिपि के दो रूप मिलते हैं—

(अ) अक्षरात्मक लिपि (Syllabic Script)

(ब) वर्णात्मक लिपि (Alphabetic Script)

(अ) अक्षरात्मक लिपि—इस लिपि में प्रत्येक ध्वनि-चिह्न में केवल एक ध्वनि न होकर ध्वनि-समूह रहता है। साधारणतः उसमें एक व्यञ्जन और एक स्वर को मिलाकर एक ध्वनि-चिह्न बनता है, जिसे अक्षर कहते हैं। देवनागरी लिपि इसी प्रकार की लिपि है। इसके प्रत्येक व्यञ्जन के साथ स्वर की स्थिति भी रहती है, जिनके अभाव में उन व्यञ्जनों का उच्चारण ही सम्भव नहीं होता। जैसे 'क' ध्वनि में क् + अ ध्वनियाँ रहती हैं। अक्षरात्मक ध्वनियों में वर्ण या ध्वनियों का विश्लेषण सरल नहीं होता। वर्णात्मक लिपि के लिखने में ही प्रत्येक ध्वनि अलग-अलग रहती है पर अक्षरात्मक में ऐसा नहीं होता है। जैसे देवनागरी लिपि में 'केशव' लिखा जायगा तो उसका ध्वनि विश्लेषण इस प्रकार होगा— क् + ए + श् + अ + व् + अ। अरबी, फारसी, बंगला, गुजराती, तमिल आदि लिपियाँ अक्षरात्मक ही हैं।

(ब) वर्णात्मक लिपि—कुछ विद्वानों का मत है कि वर्णात्मक लिपि अक्षरात्मक लिपि की ही विकसित अवस्था है। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिये अलग-अलग ध्वनि चिह्न या लिपि-चिह्न होते हैं। रोमन लिपि वर्णात्मक लिपि है। इस प्रकार की लिपि में थोड़े से चिह्नों के सहारे भाषा का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार की लिपि में अक्षरात्मक लिपि की अपेक्षा ध्वनियों के विश्लेषण में भी सुविधा रहती है। इस लिपि में केशव (Keshava) लिखने में प्रत्येक ध्वनि K + e + sh + a + v + a अलग-अलग स्पष्ट दीख पड़ती है।

ध्वनि-लिपि के विकास से आज एक ही लिपि के माध्यम से अनेक भाषायें सीखी जा सकती हैं। थोड़े से संकेतों को स्मरण करके हम अगाध ज्ञान प्राप्त कर

सकते हैं और दूसरों के लिये छोड़ सकते हैं। मानव सभ्यता के विकास की चरम उपलब्धियों में ध्वनि-लिपि का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

प्राचीन भारतीय लिपियाँ

भारत की प्राचीन लिपियों में तीन लिपियाँ आती हैं—

(१) सिन्धुघाटी की लिपि (२) खरोष्ठी और (३) ब्राह्मी।

सिन्धु घाटी लिपि—मोहनजोदरो और हड़प्पा नामक स्थानों पर हुई खुदाइयों में प्राचीन भवनों के जो ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें चित्रलिपि से युक्त कुछ मुद्राओं की प्राप्ति भी हुई है। उनके द्वारा यह पता चलता है कि सिन्धुघाटी की सभ्यता में लेखन-कला का ज्ञान भी आता है। ई० पू० ३५०० के आस-पास यह सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची रही होगी, ऐसा माना जाता है। अतः इस लिपि की प्राचीनता भी इससे अधिक ही होगी।

सिन्धु घाटी में प्राप्त लिपि को पढ़ने के लिये विभिन्न भारतीय और अभारतीय विद्वानों ने प्रयास किया है पर अभी उसके निश्चयात्मक स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं।

इस लिपि का सम्बन्ध किस लिपि से रहा होगा इस सम्बन्ध में भी अलग-अलग मत है। डॉ० मार्शल के अनुसार यह लिपि द्राविड़ लिपि से सम्बद्ध प्रतीत होती है। उन्होंने सिंधुघाटी लिपि को अन्य भारतीय लिपियों की भाँति बायें से दाहिने पढ़ी जानी वाली कहा और उसका तमिल में रूपान्तर भी किया। कुछ विद्वान सिन्धुघाटी सभ्यता का सम्बन्ध सुमेरीय जाति से मानते हैं और उनके अनुसार इस लिपि का सम्बन्ध भी प्राचीन सुमेरीय लिपि से है। कुछ विद्वान इसे ब्राह्मी लिपि का ही प्रारम्भिक रूप मानते हैं। सम्भव है कि ब्राह्मी और सिन्धुघाटी की लिपि के बीच के विकास की कड़ियाँ आज उपलब्ध न होने के कारण ही इनका सम्बन्ध समुचित रीति से स्थापित नहीं किया जा सकता है।

खरोष्ठी लिपि—इस लिपि का प्राचीनतम लेख शाहबाजगढ़ी और मनसेरा के शिलालेखों में प्राप्त हैं। इस लिपि की सामग्रियाँ विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत में मिलने के कारण यह अनुमान होता है कि यह इसी क्षेत्र में प्रचलित रही होगी। १७५ ई० पू० से १०० ई० पू० के सिक्कों पर भी इस लिपि के प्रभूत

लेख प्राप्त हुये हैं। सर ओरेल स्टाइन ने निय तथा चीनी तुर्किस्तान से इस लिपि की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध की। यह लिपि भारतीय लिपियों के प्रतिकूल और सामी लिपियों के अनुकूल दाहिने से बायें की ओर लिखी जाती है। लिपि को इण्डोबैक्ट्रियन, काबुलियन, बैक्ट्रोपालियन आदि नामों से भी पुकारते हैं पर इसका सर्वाधिक प्रचलित नाम खरोष्ठी ही है।

इसके खरोष्ठी नाम पड़ने के विभिन्न कारण बताये जाते हैं जिनमें निम्न-लिखित प्रमुख हैं—

(१) चीनी विश्वकोश के अनुसार किसी खरोष्ठ नामक व्यक्ति ने इस लिपि का आविष्कार किया। अतः उसी के नाम पर यह खरोष्ठी कहलायी।

(२) यह लिपि सीमाप्रान्त में बसने वाली खरोष्ठ नामक जाति में प्रचलित थी, इसी कारण खरोष्ठ कहलायी।

(३) डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार खरोष्ठ का अर्थ गधे का होठ है। गधे के होठ के समान अनुस्थिर एवं अनियमित होने के कारण यह खरोष्ठी कही गयी।

(४) डॉ० प्रजिलुस्की के अनुसार इस लिपि में लेखन-कार्य गधे के चर्म पर होता था उसी से खरपट्टी और पुनः खरोष्ठी बना।

(५) खरोष्ठ शब्द 'काशगर' का संस्कृत रूप है जो मध्य एशिया का एक नगर है। इस लिपि का केन्द्र काशगर रहा होगा। अतः यह खरोष्ठी कही गयी।

(६) डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार हिब्रू भाषा में 'खरोशेथ का अर्थ लिखावट है। इसी से प्राकृत में खरोट्ठ और खरोठी बने। उसी का संस्कृत रूप खरोष्ठी बना होगा।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। डॉ० बूलर का मत है कि खरोष्ठी और ब्राह्मी दोनों लिपियाँ आर्मेइक लिपि से निकली हैं। इन दोनों में उन्होंने समानता दिखाने का प्रयास किया। इसके प्रतिकूल कुछ विद्वानों का मत है कि इस लिपि का प्राचीनतम लेख भारत में मिला है। भारत के बाहर भी यह भारतीय धर्मप्रचारकों के उपदेशों और भारतीय भाषाओं के लिये प्रयुक्त हुई हैं। अतः यह भारतीय उत्पत्ति की लिपि प्रतीत होती है।

ब्राह्मी लिपि—सिंधुघाटी लिपि के बाद ब्राह्मी भारत की सबसे प्राचीन लिपि है। इस लिपि से ही भारत की सम्पूर्ण आर्य और द्राविड़ लिपियाँ विकसित हुई हैं। इस लिपि के नाम के आधार पर कुछ लोग यह विश्वास करते हैं कि यह ब्रह्मा द्वारा बनायी गयी लिपि है। लिपिशास्त्रियों में कुछ इसे भारतीय और कुछ इसे विदेशी उद्गम से आयी हुई लिपि मानते हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत कनिंघम, गौ० ही० ओझा आदि तथा द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत बूलर, प्रिंसेप, सेनार्ट, डेविड डिरिंजर आदि विद्वान आते हैं।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति किसी भी लिपि से हुई हो पर यह भारत की वह प्राचीनतम लिपि है जिसके क्रमिक विकास की स्थितियों का हमें ज्ञान है और जो समस्त भारतीय लिपियों की जननी है। पश्चिमोत्तर भारत को छोड़कर शेष सम्पूर्ण भारतमें इस लिपि के प्रचार के प्रमाण प्राप्त हैं। सभी भारतीय लिपियों की भाँति यह बायें से दाहिने लिखी जाती है। पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के लेख इस लिपि में प्राप्त हुए हैं। सन् ३५० ई० तक भारत में इस लिपि का प्रचार था। अशोक के शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों में इसी लिपि का व्यवहार मिलता है।

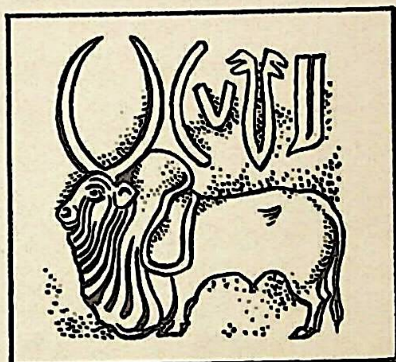
३५० ई० के उपरान्त ब्राह्मी लिपि की दो शैलियाँ हो गयीं—एक को उत्तरी शैली और दूसरी को दक्षिणी शैली कहते हैं। उत्तरी शैली का विकास गुप्तकाल में पर्याप्त हुआ। गुप्त कालीन शिलालेखों तथा अन्य लेखों में इस लिपि के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस काल तक आते-आते ब्राह्मी अक्षरों की आकृतियाँ नागरी अक्षरों से मिलने लगी थीं। इस लिपि का प्रचार ५००-६०० ई० तक पाया जाता है। इस काल की लिपि का कल्पित नाम 'गुप्त लिपि' दिया गया है।

आगे चलकर इस लिपि में भी विकास हुआ और कुटिलाक्षरों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। तात्पर्य यह कि अक्षरों की आकृति कुटिल होने लगी। इस लिपि का कल्पित नाम कुटिल लिपि दिया गया है। इसका प्रचार ९०० ई० के आस-पास तक पाया जाता है। कुछ लोग कुटिल लिपि से बंगला आदि पूर्वी लिपियों का विकास मानते हैं, पर कुछ विद्वान इससे शारदा, नागरी आदि उत्तरी भारत की लिपियों का विकास मानते हैं और प्राचीन नागरी की पूर्वी शैली से बंगला

आदि का। ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से ग्रंथ (तमिल), तेलुगु, कन्नड़ आदि लिपियों का विकास माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि तेलुगु, कन्नड़ लिपियों का विकास ब्राह्मी की उत्तरी शैली से हुआ और ग्रन्थ लिपि का विकास दक्षिणी शैली से हुआ।

देवनागरी—उपर्युक्त विकास-क्रम को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि देवनागरी लिपि का विकास प्राचीन ब्राह्मी लिपि से ही क्रमशः हुआ। इसे नागरी लिपि कहते थे। चूँकि देवभाषा संस्कृत को लिखने में इसी लिपि का प्रयोग होता है, अतः इसे देवनागरी कहा जाने लगा। इस लिपि के 'नागरी' नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के कई मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह लिपि नागर ब्राह्मणों में प्रचलित थी, इसलिए उन्हीं के नाम पर इसे नागरी कहा गया। कुछ 'नागरी' का सम्बन्ध नगर से जोड़ते हुये कहते हैं कि नगरों में अर्थात् सभ्य लोगों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया। बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललित-विस्तर' में ६४ लिपियों का उल्लेख हुआ है जिनमें एक लिपि 'नाग लिपि' है। कतिपय विद्वान इसी को नागरी का आधार मानते हैं पर डॉ० बार्नेट के अनुसार नाग लिपि तथा नागरी में कोई सम्बन्ध नही है। इस सम्बन्ध में श्री आर० शामाशास्त्री का एक लेख 'देवनागरी लिपि की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त' 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' नामक पत्रिका में छपा था जिसमें उन्होंने अनुमान लगाया है कि देवताओं की मूर्तियों के निर्माण के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिह्नों से होती थी, जो कई त्रिकोण या चक्रों आदि के बने यंत्र के मध्य लिखे जाते थे। इन्हें 'देव नगर' कहते थे। 'देव नगर' के मध्य लिखे जाने वाले चिह्न बाद में चलकर उन नामों के पहले अक्षर माने जाने लगे। 'देव नगर' के मध्य में उनका स्थान होने के कारण इन अक्षरों का नाम देवनागरी पड़ा।

मध्यदेश की लिपि होने के कारण इस लिपि का बड़ा महत्व बढ़ा। संस्कृत तो इसमें लिखी ही जाती थी, गुजराती (सामान्य अन्तर से), राजस्थानी और मराठी के लिए इसी लिपि का प्रयोग होता चला आ रहा है। हिन्दी की विभिन्न साहित्यिक बोलियों और उपभाषाओं की यह लिपि है। भारतीय संविधान में इसे भारत की राष्ट्र लिपि का गौरव प्राप्त हुआ है। इस लिपि में लिखे हुए सबसे



मोहेनजोदड़ो की एक मुद्रा
जिस पर चित्रलिपि
अंकित है।

ब्राह्मीलिपि : अशोक के रुम्मिनदेई स्तम्भ से।

आ =	ठ =	य =
अ =	ड =	र =
इ =	ड =	ल =
उ =	ढ =	व =
ए =	ण =	श =
क =	ण =	ष =
ख =	त =	स =
ग =	थ =	ह =
घ =	द =	ळ =
ङ =	ध =	क्ष =
च =	न =	ज्ञ =
छ =	प =	का =
ज =	फ =	कि =
झ =	ब =	की =
झ =	भ =	कु =
ञ =	भ =	कू =
ट =	म =	के =

नागरी लिपि का विकास

प्राचीन लेख सातवीं-आठवीं शताब्दी के प्राप्त हुए हैं। ग्यारहवीं-शताब्दी तक इस लिपि का विकास पूर्णरूपेण हो गया।

नागरी लिपि में विभिन्न ध्वनियों को व्यक्त करने लिए निम्नलिखित लिपि-चिह्न प्रयोग में लाये जाते हैं :

अ (अ), आ (आ), इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, (ओ), औ (औ), अं (अं), अः (अः) क ख ग घ ङ, च छ ज झ (झ) ञ, ट ठ ड ढ ण (ण), त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व स श ह।

संयुक्त अक्षर क्ष, त्र, ज्ञ। दो विशेष संस्कृत लिपि-चिह्न भी नागरी में प्रयुक्त होते हैं पर संस्कृत की उसी ध्वनि का ये प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं—ऋ, ष। फारसी संघर्षी ध्वनियों के लिए हम व्यञ्जनों के नीचे विन्दु लगा कर काम चलाते हैं—क़ ख़ ग़ आदि। अंग्रेजी 'o' के लिए हम 'ऑ' से कार्य निकालते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न स्वरों की मात्राओं के चिह्न अलग हैं तथा संयुक्ताक्षर वनाने में वहुत से अक्षरों के स्वतंत्र रूप बन जाते हैं।

वैज्ञानिकता—किसी भी लिपि की वैज्ञानिकता मुख्यतः इस बात पर निर्भर होती है कि उसमें जो कुछ कहा जाता है उसे तद्रूप लिखा जा सकता है अथवा नहीं। इस प्रकार लिपि की वैज्ञानिकता की पहली कसौटी है तद्रूप-लेखन या शुद्ध-लेखन। उसकी दूसरी कसौटी यह है कि उस लिपि की लिखावट में ध्वनियों का ठीक-ठीक विश्लेषण हो जाता है अथवा नहीं। दूसरी कसौटी पर नागरी लिपि खरी नही उतरती है। इसकी ध्वनियों का विश्लेषण उस सरलता से नहीं हो पाता है जिस सरलता से रोमन आदि वर्णात्मक लिपियों का हो जाता है। पर प्रथम कसौटी पर देवनागरी इतनी खरी उतरती है कि विश्व की कोई भी अन्य लिपि इतनी वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। रोमन लिपि में वहुत कम लिपि-चिह्न हैं पर उसके द्वारा सारी ध्वनियों को शुद्धतापूर्वक अंकित करना सम्भव नहीं है। अनुनासिक, अनुस्वार और न आदि के लिए नागरी में अलग-अलग चिह्न हैं जो पूर्ण वैज्ञानिक हैं पर रोमन में 'एन' (N) चिह्न से ही यह सब कार्य लिया जाता है जिससे शुद्ध वाचन के लिए लिपि-ज्ञान की अपेक्षा अभ्यास को अधिक आवश्यकता पड़ती है।

नागरी लिपि के ठीक ज्ञान और उसकी ध्वनियों के उच्चारण के अभ्यास के पश्चात् उसे बिल्कुल शुद्ध पढ़ा जा सकता है। रोमन में लिखे शब्दों के उच्चारण को उसी प्रकार अलग-अलग रटना पड़ता है जिस प्रकार चित्र लिपि से विकसित चीनी आदि भाषाओं के अलग-अलग शब्द चिह्नों को। फारसी आदि लिपियाँ इस दृष्टि से और भी दोषपूर्ण हैं। नागरी लिपि को सर्वाङ्गपूर्ण बनाकर उसके चिह्नों में विभिन्न ध्वनियों को सजाया गया था। डॉ० सुनीति-कुमार चटर्जी का कथन है कि "संसार की लिपियों में भारतीय लिपियों की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि उनके वर्णों के क्रम नितांत वैज्ञानिक हैं। (स्वरों के अतिरिक्त इनके व्यञ्जनवर्ण कंठ, तालु, मूर्धा; दन्त, ओष्ठ से उच्चरित होने वाले कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग में विभक्त हैं।) जिन लोगों ने वर्णों को इस क्रम में सजाया था अथवा जिन लोगों ने यह वर्णमाला तैयार की थी, वे वास्तव में उत्कृष्ट ध्वनिशास्त्री थे।"

नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की प्रशंसा रॉयल एशियाटिक सोसायटी बङ्गाल के प्रथम अध्यक्ष श्री विलियम जोन्स ने की थी। उनका कहना था कि जितने कम अक्षरों में नागरी लिखी जा सकती है। उतने में रोमन भी नहीं लिखी जा सकती जैसे थ्रू के लिए रोमन Through या थाट के लिये रोमन Thought लिखने से अच्छा नागरी में लिखना है। नागरी में किसी भी भाषा को लिखा जा सकता है।

त्रुटियाँ—नागरी लिपि में उच्चारण की विशेषता और वैज्ञानिकता के साथ एक त्रुटि भी है, जो आधुनिक यांत्रिक युग में इसे अन्य लिपियों से पीछे कर देती है। वह यह है कि नागरी लिपि में ४८ अक्षरों के अतिरिक्त उनकी मात्राओं और संयुक्त रूपों को मिलाकर कई सौ टाइपों के द्वारा छपाई तथा टाइप का कार्य सम्भव हो पाता था। टंकन यन्त्रों के निर्माण में बड़ी बाधाएँ थीं और बहुत प्रयत्न के बाद जो कुञ्जी-पटल (की बोर्ड) बनाया गया है उससे भी टाइप करने में रोमन आदि की अपेक्षा अधिक समय लगता है और उतनी शुद्धता भी नहीं आ पाती है। इसी प्रकार मुद्रण के कार्य में भी बाधाएँ थीं। ७०० के लगभग अलग-अलग टाइपों का निर्माण करके बड़े श्रमसाध्य ढङ्ग से जो छपाई इस लिपि में प्रारम्भ हुई, वह समय और श्रम की अधिकता के कारण बड़ी

मँहगी पड़ती थी। इसी प्रकार की कठिनाइयाँ टेलीप्रिंटर तथा तार आदि के सम्बन्ध में भी पड़ती हैं। इन प्रधान त्रुटियों के कारण इस लिपि में सुधार की आवश्यकता का अनुभव बराबर किया जाता रहा और उसके लिए विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं ने कुछ प्रयत्न भी किया।

सुधार—नागरी लिपि में सुधार का प्रथम प्रयास महाराष्ट्र में हुआ और वहाँ के सावरकर बन्धुओं ने सभी स्वरों के लिए 'अ' में ही मात्रा लगाने का सुझाव दिया। यथा अ आ अि अी अु अू अे अै ओ औ अं अः। इसका व्यवहार भी मराठी समाचार पत्रों में हुआ।

दूसरा प्रयास १९३५ ई० में प्रारम्भ हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में गाँधी जी के सभापतित्व में नागरी लिपि में सुधार के लिये एक लघु समिति गठित की गयी जिसके संयोजक काका कालेलकर बनाये गये। इस समिति के द्वारा प्रस्तुत १४ सुझावों को सम्मेलन ने स्वीकार किया—

१. अक्षरों में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं रहे। छपाई में साधारणतः शिरोरेखा लगायी जाय, पर छोटे टाइप की छपाई में सुविधा की दृष्टि से इसे न लगाएँ।

२. प्रत्येक वर्ण ध्वनि के उच्चारण क्रम से लिखा जाय। ह्रस्व इ की मात्रा (ि) अपवादस्वरूप स्वीकार कर ली जाय। मात्राएँ उच्चारण के अनुसार वर्ण के दाहिने हटाकर लगायी जाय।

३. स्वरों के लिए 'अ' में ही मात्रा लगाकर काम चलाया जाय।

४. दक्षिण की लिपियों में प्राप्त ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' के लिए ह्रस्व मात्रायें बनायी जाँय।

५. पूर्ण अनुस्वार के लिए शून्य '०' तथा अनुनासिक के लिये बिन्दु '·' लगाया जाय। व्यंजन के पूर्व अर्द्ध पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार (चंचल, अंचल) लिखा जाँय। जहाँ अनुस्वार से काम न चले पंचमाक्षर लिखे जांय (जैसे—वाङ्मय, तन्मय)।

६. मूल ध्वनि से भिन्नता प्रकट करने के लिए वर्ण के नीचे बिन्दी बाईं ओर लगायी जाय, यथा क़, ख़।

७. विराम चिह्न जैसे सभी भारतीय भाषाओं में हैं उन्हें स्वीकार किया जाय। पूर्ण विराम का चिह्न वही (।) रहे।

८. अंकों के स्वरूप इस प्रकार हों—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

९. 'ख' के लिए गुजराती 'ख' स्वीकार किया जाय।

१०. अ, झ, ण, की जगह अ, झ, ण तथा 'क्ष' की जगह 'क्ष' प्रचलित किया जाय।

११. मराठी आदि की विशिष्ट ध्वनि 'ळ' को प्रयुक्त किया जाय; उसका कार्य 'ड' या 'ल' से न लिया जाय।

१२. 'ज्ञ' का स्वरूप वही रहे।

१३. खड़ी पाई युक्त व्यञ्जनों में खड़ी पाई हटा कर संयुक्त रूप बनाया जाय जैसे सुग्गा, तख्ता। क और फ के वर्तमान संयुक्त रूप 'क्' 'फ्' स्वीकार हों। शेष में '+' संयोजक चिह्न लगाया जाय जैसे विद्–या।

१४. शिरोरेखा लेखन में भ और ध के लिये गुजराती 'भ' 'ध' प्रचलित किया जाय।

उपर्युक्त सुझावों को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने प्रचारित किया तथा अपने प्रकाशनों और परीक्षाओं में इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। हिन्दी भाषी प्रदेशों में ये सुझाव स्वीकार नहीं हुए बल्कि इनका विरोध ही हुआ। नागरी प्रचारिणी सभा काशी के सदस्यों ने इनका बड़ा विरोध किया। आगे चलकर १९४५ ई० में 'सभा' ने भी नागरी में सुधार की आवश्यकता को समझा और सुधार के लिए उसके द्वारा सुझाव आमंत्रित किये गये। श्री श्रीनिवास ने नागरी की एक सुधरी वर्णमाला प्रस्तुत की जिसमें सभी महाप्राण व्यंजनों के लिये उनके अल्पप्राण व्यंजन में ही चिह्न लगाकर बनाने का सुझाव था। पर यह सुधरी हुई वर्णमाला स्वीकार नहीं हुई।

व्यक्तिगत प्रयत्नों में प्रयाग विश्वविद्यालय के डॉ० गोरखप्रसाद का कार्य भी बड़ा महत्वपूर्ण था। उन्होंने पहला सुझाव मात्राओं को थोड़ा दाहिनी ओर हटाकर लगाने का दिया और बताया कि इससे हिन्दी मुद्रण ७०० के स्थान पर १५० या संयुक्ताक्षरों को रखने पर २०० टाइपों से सम्पन्न हो जाएगा। उनका

दूसरा सुझाव यह था कि आठ प्वाइन्ट से छोटे टाइप के मुद्रण में शिरोरेखा न लगायी जाय तो इस टाइप में कोश आदि छापने पर उसका मूल्य आधा पड़ सकता है। उन्होंने इस प्रकार का टाइप तैयार कराकर नमूने का मुद्रण भी करके दिखाया।

उत्तर प्रदेश सरकार ने ३१ जुलाई १९४७ को आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में 'नागरी लिपि सुधार समिति' का गठन किया। इस समिति में कई प्रतिष्ठित विद्वान तथा अन्य राज्यों के प्रतिनिधि भी थे। इस समिति की ९ बैठकें हुई और उसने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किया—

नकारात्मक सुझाव

१. श्री श्रीनिवास द्वारा एकमात्रिक और द्विमात्रिक स्वरों में भेद अमान्य हैं।
२. 'अ' में ही मात्रा लगाकर स्वरों का कार्य लेने का सुझाव भी मान्य नहीं है।
३. ह्रस्व 'इ' की मात्रा को छोड़कर अन्य स्वरों की मात्रा में कोई परिवर्तन मान्य नहीं है।
४. किसी व्यंजन के नीचे कोई दूसरा व्यंजन संयुक्त न हो।
५. केवल यंत्रों की सुविधा के लिए कोई अवांछनीय परिवर्तन न किया जाय।

स्वीकारात्मक सुझाव—ये सुझाव दो प्रकार के हैं—पहले लिपि या लेखन सम्बन्धी अनुरोध और दूसरे लिपि चिह्नों की आकृति अथवा रूप सम्बन्धी अनुरोध।

लिपि सम्बन्धी अनुरोध—

१. मुद्रण-टंकन की सुविधा हेतु मात्राओं को थोड़ा हटाकर दाहिनी ओर लगाया जाय।
२. शुद्ध अनुस्वार के लिए '०' लिखा जाय। व्यंजन के पंचामाक्षरों के हलन्त के लिए जहाँ प्रतिकूलता न हो अनुस्वार प्रयुक्त हो और अनुनासिक के लिए ' ँ ' का प्रयोग हो।
३. शिरोरेखा लगायी जाय।
४. ऋ, ऌ की मात्रायें भी थोड़ा हटाकर दाहिनी ओर लगायी जांय।

५. खड़ी पाई युक्त व्यंजनों का आधा रूप खड़ी पाई हटाकर बनाया जाय।

६. जिन व्यंजनों में बाहर खड़ी पाई नहीं है उनमें दाहिनी ओर थोड़ा हटाकर हलन्त लगाया जाय; जैसे राष्ट्र। क और फ इसके अपवाद हैं। इनका आधा 'क' 'फ' ही होगा।

७. ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी दाहिनी ओर लगायी जाय।

रूप सम्बन्धी अनुरोध—

१. स्वरों में 'अ' का रूप अब केवल 'अ' रहेगा।

२. व्यंजनों में छ, झ ण, ध, भ, र, ल, च, ह के केवल निम्नलिखित रूप रहेंगे—

छ, झ, ण, ध, भ, न, ळ, च, ह।

३. ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप 'ी' होगा।

४. 'क्ष' और 'त्र' के स्थान पर 'क्ष', 'त्र' प्रचलित होंगे।

५. विराम-चिह्नों में रोमन में प्रचलित सभी विराम-चिह्न ले लिए जाँय। केवल पूर्णविराम के लिए खड़ी पाई स्वीकार की जाय।

इस समिति के प्रतिवेदन के उपरान्त उस पर विचार करने के लिए लखनऊ में विभिन्न राज्यों के मंत्रियों एवं कुछ विशिष्ट विद्वानों की बैठक बुलायी गयी। इसमें 'ख' में र, व का भ्रम होने की सम्भावना से 'ख' रूप दिया गया। 'क्ष' को स्वतंत्र अक्षर के रूप में माना गया तथा ह्रस्व 'इ' की मात्रा का रूप दाहिनी ओर रखा गया पर उससे लगी खड़ी पाई को आधा कर दिया गया यथा 'हीन्दी'। शेष सभी सुझावों को इस समिति ने मान्य किया।

इस सुधरी हुई लिपि में उत्तर प्रदेश सरकार ने कुछ प्रारम्भिक पुस्तकें प्रकाशित की और प्रारंभिक पाठशालाओं में कई वर्ष पूर्व इसे चलाया भी गया था, पर यह चली नहीं। अन्य राज्यों ने तो इस ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। इन महत्वपूर्ण प्रयासों के अतिरिक्त सन् १९५३ में नागरी प्रचारिणी सभा के अनुरोध पर उत्तर प्रदेश सरकार ने एक लिपि-सुधार परिषद् का गठन किया जिसने पुराने सुझावों को ही दुहराया।

अब भी व्यक्तिगत रूप से विद्वानों के सुझाव नागरी लिपि में सुधार के सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। ●

अध्याय ८

हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति

मानव बुद्धि की सर्वोत्तम उपलब्धियाँ संस्कृति कहलाती हैं। संस्कृति मानवीय इतिहास के प्राणतत्व की संरक्षिका और संवाहिका होती है जो उसके जीवन के अन्तर्वाह्य सभी पक्षों को अपने परिवेश में समाहित कर लेती है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला, संस्कृति के अंग हैं। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य-संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया, उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।[1] संस्कृति और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य में ही संस्कृति अभिव्यक्ति पाती है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य और मध्यदेशीय भारतीय संस्कृति का परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

उत्तरी भारत का वह भूभाग जो सिंधु और ब्रह्मपुत्र नदियों तथा हिमालय और विन्ध्य शृंखला के बीच स्थित है उसे प्राचीन काल में मध्य देश कहा जाता था। इसी भूखण्ड में गंगा यमुना नदियाँ बहती हैं तथा बाह्य आक्रमणों के झंझावात को भी इसी धरती ने विशेष रूप से झेला है। यहीं भारतीय तत्वज्ञान, धर्म एवम् साधना की पवित्र ज्योतियाँ प्रदीप्त हुई हैं जिनसे भारतीय संस्कृति आलोकित है। दक्षिण भारत में जन्मे जगद्गुरु शंकराचार्य, मध्वाचार्य आदि की धर्म-साधना का प्रचार-प्रसार और उन विचारों का धाराओं में प्रस्फुटन इसी भूभाग में हुआ। यहीं प्राचीन काल में राम और कृष्ण जैसे नर-रत्न अवतरित हुए और यहीं उनकी गाथाओं को चिरस्थायी बनाने वाले वाल्मीकि और व्यास की देववाणी फूटी थी। इसी धरती ने कबीर, जायसी सूर, तुलसी जैसे कवियों को उपजाया है। यहाँ के पर्वोत्सव, काव्य-सङ्गीत और साहित्य साधना ने मुख्य रूप से

---

१. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ २०।

भारतीय संस्कृति को मुखर किया है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का दूसरा नाम मध्यदेशीय संस्कृति भी है।

मध्य देश में प्राचीन षोडष जनपद आते हैं।[1] इन जनपदों की अपनी-अपनी बोलियाँ थीं और हिन्दी की ग्रामीण बोलियों की संख्या भी लगभग १६ है और उनका क्षेत्र भी बहुत-कुछ इन प्राचीन जनपदों से मिलता-जुलता है। इस साम्य और सम्बन्ध का सुन्दर दिग्दर्शन डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने एक लेख—'हिन्दी की बोलियाँ और प्राचीन जनपद' में किया है। इन्हीं बोलियों में प्रमुख ब्रज, अवधी, और खड़ी बोली हैं जिनमें समूचा हिन्दी साहित्य सीमांकित है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि भौगोलिक दृष्टि से हिन्दी का क्षेत्र वही है। आधुनिक राज्यों की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो दिल्ली, हिमाँचल प्रदेश, पञ्जाब का पश्चिमी भाग, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, बिहार का विस्तृत भू-क्षेत्र हिन्दी प्रदेश कहा जा सकता है। इस भू-भाग ने राजपूतों की यशःगाथा एवं कलात्मक उत्कर्षों से लेकर बौद्ध दर्शन तथा कला एवं ज्ञान, भक्ति की जीवनदायिनी धाराओं के अमृत-रस से भारतीय संस्कृति को सींचा है और इन सभी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों का प्रभाव हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं पर पड़ा है। हिन्दी के सांस्कृतिक मूल्यांकन के रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत के पश्चात् भारतीय संस्कृति को जितनी समग्रता के साथ हिन्दी साहित्य ने रूपायित किया है, उतना कदाचित् किसी अन्य भाषा ने नहीं किया है।

हिन्दी साहित्य की विविध धाराओं में भारतीय दर्शन एवं धर्म की भंगिमायें अभिव्यक्त हुई हैं। आदि काल में जहाँ एक ओर रासो काव्यों में तत्कालीन राजाओं के जीवन, समसामयिक राजनीति, सामाजिक जीवन एवं प्रथाओं के चित्र अंकित हुये हैं वहीं सिद्ध एवं जैन साहित्य धाराओं में इस काल के व्यापक दार्शनिक एवं धार्मिक प्रभाव का चित्रण मिलता है। सिद्धों के चर्यापदों ने बौद्ध धर्म के महायान से विकसित बज्रयानी साधना का काव्यात्यमक निरूपण प्रस्तुत

१. कुरु, पञ्चाल, शूरसेन, मत्स्य, कोशल, काशी, विदेह, मगध, अङ्ग, वत्स, दक्षिण, कोशल, चेदि, अवन्ति, मरुदेश।

किया है। जैन कवियों के चरित काव्यों में जैन धर्म की मान्यताओं के साथ सम्पूर्ण समाज का स्पष्ट चित्रण मिलता है। रासो काव्यों से लेकर जैन चरित काव्यों तक तत्कालीन राज-समाज के वैभव-विलास की रंगीनियाँ, उनके बहु-विवाह की प्रथायें, आमोद-प्रमोद के प्रकार तथा कला-कौशल की अभिरुचियों के दर्शन होते हैं। तत्कालीन देवी देवताओं की उपासना, तन्त्रमन्त्र, जादू-टोना में समाजव्यापी प्रभाव का दर्शन भी इस काल की रचनाओं में मिलता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का दूसरा काल, जिसे भक्तिकाल कहा जाता है, इस साहित्य का स्वर्ण युग है। इसमें भारतीय दर्शन का सारतत्व भक्ति की अनेक मनोरम स्रोतस्विनियों में प्रवाहित हुआ है। इस काल में भारतीय योगमार्ग की बौद्धमत प्रभावित परिणति के क्रम में निर्गुण मार्गी संत कवियों की बानी फूटी जिसके अग्रणी कबीरदास थे। इस धारा ने समता का पाठ पढ़ाया। वेदान्त दर्शन की भूमिका पर अधिष्ठित इन संतों ने समाज की बुराइयों का कच्चा चिठ्ठा भी खोलकर रख दिया। एक ओर इनके द्वारा अपने लाल की लाली चारों ओर देखना, जल और कुम्भ की भाँति ब्रह्माण्ड नें पिण्ड का निरूपण करना दर्शित होता है तो दूसरी ओर ब्राह्मण के उस मिथ्याभिमान का भंडाफोड़ है जिसमें वह अपनी गागर शूद्रों को नहीं छूने देता पर वेश्या के पैरों पर लोटता है तथा हिंदू-मुसलमान दोनों के पथभ्रमित होने की स्पष्टोक्ति दीखती है। इस धारा ने भारतीय संस्कृति के उस ब्रह्मवाद का प्रत्यक्षीकृत रूप प्रस्तुत किया जिसमें ऊंच-नीच और जाति-पाँति का बन्धन समाप्त था। फलतः रैदास चमार, नाभादास डोम, सेन नाई और कबीर जुलाहा को महात्मा का पद प्राप्त हुआ।[1]

भक्तिकाल की दूसरी धारा सूफी कवियों की है जिसमें प्रमुख हैं मलिक मुहम्मद जायसी। हिन्दुओं के घर की कहानियों में; हिन्दुओं की लोकभाषा में तथा सम्पूर्ण हिन्दू वातावरण में इन्होंने सूफी सिद्धांतों को ढालने का प्रयास किया। इन कवियों ने अपने समय के सम्पूर्ण सांस्कृतिक वातावरण को अपने प्रेमाख्यानों में रूपायित किया है। सिद्धयोगियों की योग-साधना का अपनी प्रेम-

---

१. संत काव्य का लौकिक अध्ययन, ओमप्रकाश शर्मा, प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद।

साधना के साथ समन्वय करते हुए इन कवियों ने भारतीय अद्वैत वेदांत और इस्लामी एकेश्वरवाद के अविरोधी तत्वो कों अपनी रचना में उजागर किया। तत्कालीन देवी-देवता, उपासना-पद्धति, जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र आदि का चित्रण करते हुए सामाजिक पर्वोत्सवों, धार्मिक संस्कारों, क्रीड़ा-विनोद, आहार-विहार, अलंकरण परिधान से लेकर चित्र, मूर्ति, संगीत आदि कलाओं तक का समाहार इनके ग्रंथों में मिलता है। इनके अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान के अन्य परिधियों का संस्पर्श भी इनके द्वारा हुआ है। इन्होंने ज्योतिष, सामुद्रिक, मुहूर्तशास्त्र, नक्षत्र-विज्ञान, रसायन, आयुर्वेद आदि का समसामयिक ज्ञान अपनी रचनाओं में समाविष्ट किया है। इनकी रचनाओं में हिन्दुओं को अभिजात एवं लोक संस्कृति की अनुपम अभिव्यक्ति हुई है।[1]

सगुण भक्ति को दो धाराएँ इस काल में प्रवाहित हुयीं—कृष्णभक्ति धारा तथा रामभक्ति धारा। इन धाराओं के प्रतिनिधि कवि सूरदास और तुलसीदास हिन्दी साहित्य के ही नहीं प्रत्युत भारतीय संस्कृति के गौरवचिह्न हैं। सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों ने वल्लभाचार्य के दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय भक्ति की रसधारा को प्लावित करते हुए व्रज लोक संस्कृति का भव्य चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया।[2] दर्शन, धर्म, संगीत; लोकजीवन की अनुपम झाँकी कृष्ण भक्त कवियों ने निरूपित किया है। रामभक्ति धारा के अग्रगण्य गोस्वामी तुलसीदास ने तो अपनी रचनाओं में समूची संस्कृति का मूर्त रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन को प्रस्तुत करते हुए उन्हें भारतीय जीवनादर्शों के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित किया। भारतीय परिवार, सामाजिक आदर्श; राजनीति, धर्म, दर्शन और लोक जीवन की समस्त भंगिमाओं को गोस्वामीजी ने अपने सर्वोत्तम स्वरूप में प्रस्तुत किया है। वे भारतीय संस्कृति के अमर गायक और प्रतिनिधि कवि के रूप में देश-विदेश में प्रतिष्ठित हैं।

---

१ हिन्दी सूफी काव्य में हिन्दू संस्कृति का चित्रण और निरूपण, डॉ० कन्हैया सिंह, प्रकाशक : भारती-भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

२. डॉ० सत्येन्द्र : व्रजलोक संस्कृति।

भक्तिकाल के पश्चात् रीतिकाल आया। देव, विहारी, भूषण, मतिराम, घनानन्द, पद्माकर आदि कवियों की वाणी से हिन्दी विभूषित हुई। इन कवियों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्पराओं से हिन्दी को मण्डित किया। एक ओर इनकी लेखनी में युगीन ऐश्वर्य और विलासिता के मुखर चित्र प्रस्फुटित हुए जिनमें गुलगुली गलीचें, गीलमें, गुनीजन से युक्त राजदरवार और अली-कली में वँधे राजा के हवाल चित्रित हुए तो दूसरी ओर शिवराज की प्रलयभानु जैसी दमकती कृपाणों के शत्रु दर्पहारी रूपचित्र दमक उठे। रूप-सौन्दर्य, अलंकरण, नखशिख, कोमलता आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रों का अंकन हुआ। ज्योतिष, नक्षत्र विज्ञान आदि शास्त्रों को भी अपनी सीमा में मुखर किया गया। भौतिक जीवन के लालित्य एवं माधुर्य के शत-सहस्र धाराओं में प्रवाहित कर इन कवियों ने जीवन के एक पक्ष की पूर्ति हिन्दी-साहित्य में की। भक्तिकाल ने 'निःश्रेयस' और रीतिकाल ने 'अभ्युदय' का पक्ष प्रस्तुत किया। इन दोनों कालों की हिन्दी कविता ने जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत कर दिया।

आधुनिक युग में भारतेन्दु काल से ही युगीन नवोन्मेष का दर्शन होने लगता है। द्विवेदी युग में राष्ट्रीयता का स्वर सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी स्तरों पर फूट पड़ता है। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नवलेखन आधुनिक भारतीय जीवन एवं परिवेश के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार हिन्दी के प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा आदि के उपन्यासों, प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रेमी आदि के नाटकों, शुक्लजी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि के निबन्धों तथा विविध विधाओं की अन्यान्य रचनाओं में भारत की सच्ची संस्कृति झाँकती हुई दीख पड़ती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में मध्यदेशीय संस्कृति का पूर्ण प्रस्फुटन और चित्रण हुआ है। यह मध्यदेशीय संस्कृति ही भारत की प्रतिनिधि संस्कृति है।



अध्याय ९

राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और भावी रूप

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। कभी संस्कृत भाषा आसेतु हिमांचल विचार-विनिमय का माध्यम रही होगी और भारतवासियों के सांस्कृतिक ऐक्य की प्रतीक रही होगी पर आधुनिक काल में निश्चित रूप से यह स्थान हिन्दी को प्राप्त हो गया है। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में हिन्दी का प्रसार है। विन्ध्य शृङ्खला के दक्षिण मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र तक उसकी गति है। संपूर्ण भारत की ४५% जनसंख्या की वह अपनी भाषा है। उत्तर, दक्षिण, पूरब पश्चिम में स्थित चार धामों में पर्व-उत्सवों में जब ग्रामीण हिन्दू देश के कोने-कोने से एकत्र होते हैं अथवा कुम्भ के महापर्व पर त्रिवेणी तीर्थ पर जब वे जुटते हैं तो उनकी संपर्क भाषा हिन्दी ही होती है। इस प्रकार सहज स्वाभाविक ढंग से हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा और राष्ट्रभाषा विकसित हो गयी है।

इस तथ्य को हृदयंगम करके उन्नीसवीं शताब्दी के समाजसुधारकों में अग्रगण्य बंगवासी राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन एवं शारदाचरण मित्र ने सम्पूर्ण भारत की संपर्कभाषा हिन्दी और संपर्क लिपि नागरी का महत्व प्रतिपादित किया। गुजराती भाषी महर्षि दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी को 'आर्य भाषा' कहा और संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी उन्होंने हिन्दी माध्यम से व्याख्यान प्रारंभ किया और हिन्दी में ही 'सत्यार्थ-प्रकाश' की रचना की। इसी पृष्ठभूमि में महात्मा गाँधी ने भी हिन्दी की आवश्यकता को समझा और इसका महत्व प्रतिपादित किया। वे १९३८ ई० में ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मान्यता प्रदान कर चुके थे। तब से भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वाधीनता, स्वदेशी आदि के स्वाभिमान के साथ स्वभाषा के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी का भी आदरणीय स्थान रहा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व कुछ समय के लिये सांप्रदायिक आधार पर हिन्दी के स्थान पर उर्दू या हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा मानने का आन्दोलन भी चला, पर यह सब कुछ

भारत-विभाजन के षड्यंत्र थे और विभाजन हो गया। भारत की संविधान निर्मात्री सभा ने भारतीय संविधान के भाग १७, अनुच्छेद ३४३ की धारा १ में नागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी को भारत को शासकीय भाषा को मान्यता प्रदान किया। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को हिन्दी के लिए बाहर-भीतर सर्वत्र संघर्ष करना पड़ा। वे हिन्दी के दधीचि थे। उन्हें नागराक्षरों के रक्षण की सफलता तो मिल गयी पर उपर्युक्त अनुच्छेद में अंक रोमन स्वीकार किये गये।

अनुच्छेद ३४३ की धारा २ में १५ वर्षों के लिये अंग्रेजी के प्रयोग चलते रहने की छूट दे दी गयी। संविधान निर्माताओं की यह आकांक्षा थी कि इस १५ वर्ष की अवधि में हिन्दी धीरे-धीरे अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर लेगी पर दुर्भाग्य से १५ वर्ष की अवधि बीतने के पश्चात् चित्र और भी धूमिल हो गया। स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक कारणों से हम में टूटन, बिखराव और अलगाव की भावनायें बढ़ीं। निहित स्वार्थों ने प्रान्तीयता और प्रान्तीय भाषा का मोहाभिमान उत्पन्न किया। फलस्वरूप हिन्दी के साथ अंग्रेजी सह राजभाषा के रूप में चलती रहेगी, इस प्रकार की व्यवस्था कानून द्वारा कर दी गयी। राजभाषा (संशोधन) विधेयक द्वारा संसद ने राजभाषा के रूप में अंग्रेजी के अनिश्चित काल तक चलने की व्यवस्था कर दी। आगे चल कर श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में तो यह व्यवस्था हो गयी कि जब तक एक भी अहिन्दी भाषी प्रान्त चाहेगा अंग्रेजी इस देश में राजभाषा के रूप में चलती रहेगी। इस प्रकार स्वतंत्र देश में अपनी राष्ट्रभाषा हिन्दी की संवैधानिक घोषणा के बाद भी उसे द्वितीय स्थान प्राप्त है और व्यवहार में केन्द्रीय सरकार के कार्यों में सर्वत्र अंग्रेजी को ही प्राथमिकता प्राप्त है। यह स्थिति लज्जाजनक है और इसे शीघ्र समाप्त करना चाहिये।

समस्याएँ :

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो गयी है और इस स्थान पर आसीन हो जाने के पश्चात् भारत सरकार तथा हिन्दी भाषी राज्यों की सरकारों ने हिन्दी में लेखन-प्रकाशन को प्रोत्साहित करके उसकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया। केन्द्र में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की तथा हिन्दी भाषी राज्यों में भाषा विभाग

या हिन्दी-संस्थान जैसी संस्थाओं की स्थापना के पीछे यही उद्देश्य है। राज्य के द्वारा किए जा रहे इन प्रयासों के अतिरिक्त हिन्दी सेवी संस्थाओं—जैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना आदि—के द्वारा किये जा रहे कार्यों को सरकारी आर्थिक सहायता द्वारा भी बहुत से महत्वपूर्ण कार्य संपादित हुए हैं। हिन्दी भाषा का साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। प्राचीन कवियों में तुलसी, सूर आदि तथा नवीन कवियों में प्रसाद, निराला, अज्ञेय आदि किसी भी श्रेष्ठ भाषा के कवि से कम नहीं हैं। यही स्थिति गद्य के क्षेत्र में भी है। साहित्यिक दृष्टि से उत्कर्षयुक्त होने पर भी राजभाषा के रूप में हिन्दी में बहुत से अभाव रहे हैं जिन्हें दूर करने के अनेक-विध प्रयास हुए हैं पर अब भी उन दृष्टियों से अभाव खटकता ही है।

पारिभाषिक शब्दावली—हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली का बड़ा अभाव रहा है। सर्वप्रथम इस अभाव की पूर्ति का प्रयास डॉ॰ रघुवीर ने किया और उन्होंने अपने वृहद् अंग्रेजी-हिन्दी कोश में लगभग एक लाख अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया। इस प्रकार के और भी कई व्यक्तिगत प्रयास हुए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शासन ने विद्वानों की समितियाँ गठित करके पारिभाषिक शब्दों की सूचियां बनवा कर प्रकाशित कीं। इस प्रकार आज हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के अभाव की प्रचुर मात्रा में पूर्ति हो गयी है पर एक ही शब्द के लिये हिन्दी में कई-कई शब्द प्रचलित हैं। इनमें प्रचलन की एकरूपता लाने की आवश्यकता है। जैसे विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के लिए कहीं कुल-सचिव, कहीं प्रस्तोता और कहीं पीठ-स्थिविर शब्द प्रचलित हैं।

ज्ञान ग्रन्थों का प्रणयन—हिन्दी में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की तो प्रचुरता है और इनके लेखकों की भी कमी नहीं है पर हिन्दी माध्यम से विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में तथा इतिहास, भूगोल, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र, कानून आदि मानवीय ज्ञान के क्षेत्रों को मौलिक ढंग से उद्घाटित करने वाले लेखकों और विद्वानों का नितान्त अभाव है। इस क्षेत्र में आज कार्य करने वालों को यश और धन दोनों ही प्राप्त हो सकता है पर परंपरा की लीक पीटते हुए हिन्दी क्षेत्रों के विविध विषयों के विद्वान्

आज भी अंग्रेजी माध्यम से चिपके हुए हैं। जिन लोगों ने हिन्दी में लिखना भी प्रारम्भ किया है वे अभी सोचते अंग्रेजी में ही हैं और हिन्दी में उसका अनुवाद प्रस्तुत कर देते हैं। आज आवश्यकता है ऐसे असंख्य लेखकों की जो हिन्दी में सोचें और हिन्दी में लिखकर हिन्दी माध्यम से ज्ञान-विज्ञान को समृद्ध करें। यह कार्य सेवाभाव से हो पाएगा। हिन्दी पत्रकारिता एवं लेखन को चमकाने वाले मराठी लेखक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर एवं श्रीमाधवराव सप्रे का योगदान इस दिशा में अनुकरणीय है।

ज्ञानग्रन्थों का अनुवाद—ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं में मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन का कार्य तो वर्ष दो वर्ष में नहीं हो सकता। पर विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्धि प्राप्त अन्य भाषाओं के ग्रंथों का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद करा लेना कोई कठिन कार्य नहीं है पर इस दिशा में योजनाबद्ध कार्य करने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में थोड़ा बहुत कार्य केन्द्र और हिन्दी भाषी प्रांतों द्वारा प्रारम्भ अवश्य हुआ है पर कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि इस दिशा में नहीं हुई है। इस कार्य में दो बातों का ध्यान देना आवश्यक है। पहला यह कि इस प्रकार का अनुवाद कार्य करने वाली सभी संस्थाओं के प्रतिनिधियों की एक समन्वय समिति बने जो प्रतिवर्ष किये जाने वाले अनुवाद कार्यों की सूची पहले से बनायें और प्रत्येक संस्था को निश्चित ग्रंथों के अनुवाद का कार्य सौंप दे। दूसरा यह कि अनुवाद के लिये अब तक केवल अंग्रेजी या संस्कृत ग्रंथों की ओर देखा गया है। आवश्यकता है सभी राज्य भाषाओं, एशियायी भाषाओं—चोनी जापानी आदि तथा योरोपीय भाषाओं—जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि के महत्वपूर्ण ज्ञानग्रंथों को हिन्दी में अनूदित किया जाय।

हिन्दी प्रकाशन तथा हिन्दी ग्रन्थों का प्रसार—हिन्दी में प्रकाशित ग्रंथों का स्तर मुद्रण, कागज, सज्जा और जिल्दसाजी आदि सभी दृष्टियों से बड़ा घटिया होता है। अन्य देशों के ग्रंथों के सामने हिन्दी के प्रकाशन उपहासजनक प्रतीत होते हैं। इधर हिन्दी ग्रंथों का मूल्य भी तेजी से बहुत अधिक बढ़ता हुआ दीख रहा है। इस दिशा में सरकार द्वारा सक्रिय कदम उठाकर हिन्दी ग्रंथों के प्रकाशन स्तर को ऊँचा उठाने तथा विश्व में उनके प्रसार की व्यवस्था करने की

आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को विश्व साहित्य में सम्मानजनक स्थान प्राप्त कराने के लिये जहाँ मौलिक साहित्य प्रणयन एवं महत्वपूर्ण अनूदित साहित्य निर्माण की आवश्यकता है वहीं प्रकाशन स्तर को ऊँचा करने तथा विश्व में हिन्दी ग्रंथों के प्रसार की भी महती आवश्यकता है।

हिन्दी पत्र-पत्रिकायें—हिन्दी में दैनिक और साप्ताहिक पत्रों की तो कमी नहीं है पर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की ओर देखकर जब हम हिन्दी में दैनिक-साप्ताहिक पत्रों की ओर देखते हैं तो हम लज्जा का अनुभव करते हैं। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे महानगरों से अंग्रेजी में निकलने वाले पत्रों के साथ ही उसी प्रेस से हिन्दी के पत्र भी प्रकाशित होते हैं। उन्हें देखकर लगता है जैसे साहब के बंगले के एक कोने में बना नौकर का कमरा हो। इसके लिये यदि देश के पूँजीपति आगे नहीं आते हैं तो सरकार को हिन्दी का एक स्तरीय दैनिक पत्र निकालना चाहिये और हिन्दी क्षेत्र की जनता को भी उस पत्र को खरीदकर पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये।

हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में समाचार पत्रों, समाचार साप्ताहिकों, विचार साप्ताहिकों के रूप में ही पत्र-पत्रिकायें मिलती हैं। स्वास्थ्य, विज्ञान, कानून तथा अन्य विशिष्ट क्षेत्रों की पत्र पत्रिकाओं का हिन्दी में बड़ा अभाव है। इन क्षेत्रों में तेजी से कार्य करने की आवश्यकता है। पिछले दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने एक विधि-पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया था जो अब बन्द हो गयी है।

पाठकों की रुचि का परिष्कार—उपर्युक्त सभी अभावों की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि भारत के निवासियों में राष्ट्र भाषा के प्रति अनुराग का एक अन्तरंग भाव निर्माण किया जाय तथा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं एव ग्रन्थों को खरीद कर पढ़ने की रुचि का उनमें निर्माण किया जाय। जब तक देश में खरीद कर पढ़ने वाले पाठक नहीं तैयार होंगे हिन्दी का विकास, प्रचार और प्रसार सम्भव नहीं होगा।

राष्ट्रभाषा का भावी रूप

हिन्दी भाषा के परिवेश में आधुनिक काल से पूर्व प्रचुर मात्रा में ब्रज, अवधी आदि के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सन्निवेश है पर आज जब राष्ट्रभाषा या राजभाषा

हिन्दी की बात कही जाती है तो तात्पर्य खड़ी बोली हिन्दी से ही होता है। इस हिन्दी को संपूर्ण भारत की सम्पर्क एवं शासकीय भाषा के रूप में विकसित करने के लिये इसे कौन-सा रूप प्रदान किया जाय यह विद्वानों के विचार का विषय है।

इस सम्बन्ध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ में यह व्यवस्था दी गयी है कि वह संविधान में वर्णित १४ भारतीय भाषाओं एवं हिन्दुस्तानी से 'रूप, शैली और अभिव्यक्ति' (form, style and expression) पर्याप्त रूप में लेने के पश्चात् ही कार्यालयों के लिये उपयुक्त होगी। इसके लिए आवश्यक है कि हिन्दी के लेखक और विद्वान अन्य राज्यभाषाओं के अध्ययन अनुशीलन द्वारा उनकी प्रकृति और शब्दावली से पूर्णतया भिज्ञ हों तभी इस प्रकार की हिन्दी का विकास उनकी लेखनी से सम्भव हो सकेगा।

कुछ लोगों का मत यह है कि हिन्दी को उर्दू मिश्रित करने से वह सर्व जन सुलभ हो सकेगी पर अन्य राज्यभाषाओं का विचार करने पर यह बात मिथ्या प्रमाणित होती है। दक्षिण भारतीय तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ से लेकर मराठी, बंगाली तक सभी भारतीय भाषाओं में संस्कृत उद्‌गम के शब्दों की बहुलता है। अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा संपूर्ण भारत के लिये स्वीकार्य भाषा हो सकती है। यही स्थिति पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में भी है। संस्कृत से ग्रहण किये गये पारिभाषिक शब्द अन्य राज्य-भाषा-भाषियों के लिये सरल होंगे।

भारत की विभिन्न भाषाओं में अनेक शब्द ऐसे हैं जो समान रूप से प्रचलित हैं। उन्हें हिन्दी के शब्द-भाण्डार में स्थान देना अपेक्षित है।

इस प्रकार राष्ट्रभाषा हिन्दी का भावी रूप इसके प्रकृत रूप से कुछ भिन्न नहीं होगा पर जैसे-जैसे वह अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आयेगी, उनसे रूप, शैली और अभिव्यक्ति सम्बन्धी विशेषतायें उसे अवश्य प्राप्त होंगी। हिन्दी के लेखक और अन्य राज्य-भाषाओं के लेखक जब एक दूसरे के निकट आयेंगे तो आदान-प्रदान का जो क्रम प्रारम्भ होगा उसमें हिन्दी सभी भारतीय भाषाओं की छवियों से मण्डित एक संगम-सी दीख पड़ेगी और उसका यह रूप सर्वग्राह्य और सर्वस्पर्शी होगा।

अध्याय १०

हिन्दी का प्रायोगिक व्याकरण

कारक

संज्ञा अथवा सर्वनाम पदों का वह रूप जो वाक्य में अपना सम्बन्ध किसी अन्य पद के साथ प्रकाशित करे, कारक कहा जाता है। हिन्दी में आठ कारक होते हैं। इन कारकों का प्रयोग वाक्य में कभी-कभी निर्विभक्तिक होता है और कभी-कभी सविभक्तिक। ये आठों कारक और इनकी विभक्तियाँ (परसर्ग) निम्नलिखित हैं—

कर्त्ता – ने

कर्म—को

करण—से, द्वारा

सम्प्रदान—को, के लिये

अपादान—से

सम्बन्ध—का, के, की, रा, रे, री

अधिकरण—में, पर

सम्बोधन—हे, अहो

कारक-चिह्नों का प्रयोग

'ने' का प्रयोग—'ने' विभक्ति कर्त्ता के संज्ञा या सर्वनाम पद के साथ केवल सकर्मक क्रिया के साथ सामान्य, आसन्न, पूर्ण एवं संदिग्ध भूतकाल में प्रयुक्त होती है। अकर्मक क्रिया होने पर 'ने' विभक्ति लुप्त हो जाती है तथा सकर्मक क्रिया में भी वर्तमान एवं भविष्यत् कालों में यह विभक्ति लुप्त रहती है।

'ने' युक्त वाक्य :

अशोक ने आम खाया। (सकर्मक क्रिया—सामान्य भूतकाल)

अशोक ने आम खाया है। (सकर्मक क्रिया—आसन्न भूतकाल)

अशोक ने आम खाया था। (सकर्मक क्रिया—पूर्ण भूतकाल)

अशोक ने आम खाया होगा। (सकर्मक क्रिया—संदिग्ध भूतकाल)

अकर्मक क्रिया जैसे हँसना, रोना, जागना, सोना, लड़ना, भागना, आना, जाना, उठना, बैठना आदि में किसी भी काल में कर्त्ता के साथ 'ने' चिह्न नहीं होगा।

उदाहरणार्थ :

राम हँसा।

राम हँसा है।

राम हँसा था।

राम हँस चुका होगा।

राम हँसता था।

'ने' चिह्न से युक्त जब कर्त्ता होता है तो क्रिया का लिङ्ग कर्म के अनुसार होता है। जैसे—राम ने रोटी खायी।

इसी प्रकार कुछ और उदाहरण देखे जा सकते हैं—

अशुद्ध प्रयोग	शुद्ध प्रयोग
१. वे मुझे एक पत्र लिखे।	१. उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा।
२. हम उनसे बातें किये।	२. हमने उनसे बातें की।
३. मैं उनसे कह दिया हूं।	३. मैंने उनसे कह दिया है।
४. आप अवश्य काम किये होंगे।	४. आपने अवश्य काम किया होगा।
५. तुम लोग कहानियाँ लिखे थे।	५. तुम लोगों ने कहानियाँ लिखी थीं।

'को' का प्रयोग—'को' कर्मकारक का चिह्न है। इसका प्रयोग सम्प्रदान कारक में भी होता है। 'को' के प्रयोग के कुछ उदाहरण—

१. माधव को बुलाओ। २. राम ने श्याम को पत्र लिख दिया है।

३. ब्राह्मण को धन दे दिया। ४. वहाँ जाने को जी चाहता है।

किन्तु कुछ स्थानों पर 'को' लुप्त रहता है। ऐसे कर्म जिनमें 'को' लुप्त होता है, निर्जीव कर्म कहलाते हैं। निर्जीव कर्म के कुछ उदाहरण देखिए १. मैं बात करता हूँ। २. वह खाना खाता है। ३. वह बाजार गया।

उपर्युक्त वाक्यों में बात, खाना और बाजार शब्द निर्जीव कर्म हैं। यदि विशेष शक्ति का अनुभव करना अभीष्ट हो तो निर्जीव कर्म के साथ 'को' भी लगाया जाता है—

निर्जीव कर्म का प्रयोग	शक्ति-अनुभावक 'को' का प्रयोग
१. श्याम ने घोड़े दौड़ाये।	श्याम ने घोड़ों को दौड़ाया।
२. उसने यह पुस्तक पढ़ी।	उसने इस पुस्तक को पढ़ा।

कुछ क्रियाओं के प्रयोग में कर्म के साथ 'को' का लगाना आवश्यक होता है—

१. उपेन्द्र को सुरेन्द्र से बड़ा प्रेम था।

२. शैलेश अपने भाग्य को कोसता है।

३. उसको क्या अधिकार है कि वह यहाँ कार्य करे?

४. मुझको तुम्हारा व्यवहार पसन्द नहीं है।

५. ईसाई बाइबिल को मानते हैं।

दिन, दिनाङ्क, समय-खण्ड के साथ 'को' प्रयुक्त होता है।

१७ जून को, रात को, रविवार को, दोपहर को। तव्यत् और अनीयर् के अर्थ में प्रयुक्त हिन्दी क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'को' का प्रयोग होता है—

१. मूझको कार्य करना चाहिए।

२. उसको पुस्तक पढ़नी है।

'पड़ना' और 'होना' के प्रयोग में भी कर्त्ता के साथ को लगता है—

१. मुझको लखनऊ जाना पड़ा।

२. मुरली को कुछ हो गया।

'को' का प्रयोग संज्ञार्थक क्रियाओं के साथ भी होता है। इन संज्ञार्थक क्रियाओं का अर्थ 'के लिए' होता है। जैसे—

१. मैं तुम्हें लिखने को कहूँगा।

२ मिठाई खाने को जी चाहता है।

'मारना' क्रिया का अर्थ जान से मारना न होकर केवल पीटना या चोट पहुँचाना हो तो कर्म के साथ 'को' लगता है—

१. ग्रामीणों ने डाकू को मारा। २. हलवाहे ने बैलों को मारा।

आज्ञा-सूचक क्रियाओं के प्रयोग में कर्त्ता के साथ 'को' का प्रयोग होता है—

१. छात्र को लिखने दो।

२. चपरासी को वहाँ जाने दो।

से

करण कारण और अपादान कारक के परसर्ग के रूप में 'से' का व्यवहार होता है। यह 'से' करण कारक में संयोगार्थक और अपादान कारक में वियोगार्थक दो प्रकार का होता है। 'से' साधन, साधक, विच्छेद, देशकाल-सीमा, तुलना, मूल्य-निर्धारण आदि कई अर्थों में प्रयुक्त होता है—

१. साधन के अर्थ में—१. राम ने रहीम को पत्थर से मारा।

२. हम आँख से देखते हैं। ३. यात्री ट्रेन से प्रयाग गये।

२. साधक के अर्थ में—कर्मवाच्य या भाववाच्य में 'से' का साधकार्थक प्रयोग होता है—

१ मुझसे कौन-सी गलती हुई ? (२) मुझसे कार्य किया नहीं जाता। (३) खेत चौपायों से चरा जाता है।

३. विच्छेद के अर्थ में—(१) गोरखपुर से इलाहाबाद दूर है। (२) वह घर से विद्यालय गया।

४. देशकाल की प्रथम सीमा—दो दिन से, दोपहर से, यहाँ से ५ कोस, वृहस्पतिवार से।

५. तुलना के लिए—(१) वह तुमसे अच्छा है। (२) राम श्याम से छोटा है।

६. मूल्यांकनार्थ—किस दर से, रुपयों से।

७. कहना, माँगना, पूछना आदि क्रियाओं के प्रयोग में कर्म के साथ 'से' व्यवहृत होता है—

राम ने मोहन से कहा/पूछा/माँगा।

८. किसी कारणभूत परेशानी का द्योतन कराने वाले शब्द के साथ 'से' का प्रयोग होता है। भूख, प्यास, जाड़ा, शीत, गरमी, कान, आँख आदि ऐसे ही शब्द हैं—

(१) शिशिर भूख/प्यास/जाड़े से मर रहा है।

(२) उसने माधव को यहाँ से जाते अपनी आँख से देखा था।

(३) वह अपनी आदत से परेशान है।

९. क्रिया-विशेषण बनाने के लिए भी 'से' का सहयोग लेते हैं। जैसे— धीरे से, जोर से, इस तरह से, क्रम से।

१०. मैत्री, प्रेम, वैर आदि की अभिव्यक्ति के लिए भी 'से' का प्रयोग होता है—

(१) राम की रमेश से मित्रता हो गयी।

(२) राम का जानकी से विवाह हुआ।

११. उत्पत्ति सूचक—जो स्थान अथवा वस्तु किसी वस्तु अथवा भाव की उत्पत्ति का कारण हो उसमें 'से' का प्रयोग होता है—

(१) क्रोध से सम्मोह होता है।

(२) सोना खान से निकलता है।

१२. अङ्ग-विकार द्योतक शब्द के साथ 'से' प्रयुक्त होता है—

(१) वह आँख से काना, कान से बहरा और पैर से लँगड़ा है।

१३. सहायता के अर्थ में 'से' के ही समान 'द्वारा' का भी प्रयोग होता है। जैसे—यह कार्य रमेन्द्र द्वारा हुआ या रमेश से हुआ।

के लिए

'के लिए' सम्प्रदान कारक का चिह्न है। जिसके लिए कोई क्रिया की जाती है अथवा वस्तु दी जाती है, उसके सन्दर्भ में इस परसर्ग का प्रयोग होता है। निमित्त और अवधि के सन्दर्भ में 'के लिए' विशेष तौर पर व्यवहृत होता है—

(१) निमित्त—(१) मैंने तुम्हारे लिए कार्य किया।

(२) वह खाने के लिए नहीं गया।

(२) अवधि—मैं तीन दिनों के लिए बाहर जाऊँगा।

(३) देना, चाहना के प्रसंग में 'के लिए' का प्रयोग होता है—

(क) राजा ब्राह्मण के लिए धन देता है।

(ख) वह अपने लिए कुछ चाहता है।

(ग) तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम मन लगाकर पढ़ो।

का, की, के, रा, री, रे

जब किसी से किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान का सम्बन्ध जताया जाता है तो उस स्वामित्व बोधक शब्द के साथ इन परसर्गों का व्यवहार होता है। इन कारक चिह्नों से सम्बन्ध, स्वामित्व, कर्तृत्व, विनिमय, कारण-कार्य-भाव, परिमाण, प्रयोजन आदि का बोध होता है।

१. सम्बन्ध—(१) यह रामू का पुत्र है (२) हिन्दी हमारी राष्ट्र-भाषा है।

उपर्युक्त वाक्यों में रामू का पुत्र के साथ और हमारा राष्ट्र-भाषा के साथ सम्बन्ध प्रकट किया गया है।

२. स्वामित्व (१) यह नरेन्द्र का खेत है। (२) वह विद्या का घर है।

३. कर्तृत्व (१) प्रसाद की कहानियाँ, कालिदास की रचनाएँ।

४. कारण-कार्य-भाव—सोने की मुद्रिका, ताँबे का तार आदि।

५. विनिमय—किसी मूल्य पर बिकती वस्तुओं का बोध कराने के लिए सम्बन्ध सूचक चिह्नों का प्रयोग होता है। जैसे—
दस पैसे के आम, ५ रुपये का गेहूँ।

६. परिमाण—१ भरी का हार, दस हाथ का पेड़।

७. प्रयोजन—पहनने का कपड़ा, खाने का बर्तन, सिलाई की मशीन।

८. सम्बन्ध सूचक अव्ययों के साथ भी इन परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। जैसे—उसके आगे, उसके बाद, मेरे पास।

९. कुछ मुहावरों के साथ भी ये चिह्न व्यवहृत होते हैं जैसे—दिन का दिन, कान का कच्चा, लात का आदमी, विपत्ति का मारा।

में

'में' किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की अन्तर्निहिति का बोध कराता है। यह जिस वस्तु अथवा व्यक्ति बोधक शब्द के साथ प्रयुक्त होता है वह शब्द अपने में निहित अन्य वस्तुओं के आधार अथवा आश्रय का बोध कराता है। स्थान, स्थिति, काल, तुलना, मूल्य, अन्तर, निर्धारण, कारण, निमित्त आदि का बोध इस परसर्ग से होता है।

१. स्थान वाचक—घर में आदमी, जंगल में हाथी।

२. स्थिति वाचक—पढ़ने में रत, आनन्द में मग्न।



३. कालवाचक—रात में निकलना, भविष्य में।

४. तुलना—वह जानकारी में किसी से कम नहीं है।

५. मूल्य—बैल कितने में मिला, ३०० रुपयों में साइकिल मिली।

६. अन्तर—उसमें और तुम्हारे में कौन-सा अन्तर है ?

७. निर्धारण या पार्थक्य—कवियों में कालिदास श्रेष्ठ हैं। देवताओं में इन्द्र उत्तम हैं।

८. कारण—आवेश में, बुद्धि में तेज।

९. निमित्त—तीन घण्टे तो परीक्षा देने में ही गुजर गये।

१०. संज्ञा से क्रियाविशेषण बनाने के लिए भी 'में' का प्रयोग होता है। जैसे, विस्तार में, मन्द स्वर में।

११. मुहावरेदार प्रयोग—दस बजने में सात मिनट, आपस में।

पर

जहाँ 'में' का अर्थ भीतर होता है वहीं 'पर' का अर्थ ऊपर होता है। आधार या आश्रय का बोध 'पर' से भी होता है। इसके भी विभिन्न प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

१. स्थानवाचक—रास्ते पर, मेज पर, हाथ पर।

२. कालवाचक—वहाँ जाने पर, खा लेने पर, समय पर।

३. अनुसरण—राम अपनी प्रतिज्ञा पर अड़ा हुआ है।

४. निमित्त—मैंने उसे भोजन पर बुलाया है। सैनिक अपने देश पर जान देते हैं।

५. कारण—इतनी-सी बात पर तुम क्यों नाराज हो गये। वह कहने पर कार्य करता है।

६. निरन्तरता—कार्य पर कार्य हो रहे हैं।

७. परिस्थिति—आहत होने पर भी वह आ गया।

८. मुहावरेदार प्रयोग—(१) श्याम के पते पर उसने पत्र लिखा। (२) मैंने इस बात पर आपत्ति की। यह कार्य आप पर ही है। उस पर मेरा पूरा विश्वास है। मुझ पर दया करो।

हे, अहो, अरे, आदि सम्बोधन वाचक कारक-चिह्नों का प्रयोग किसी को बुलाने के लिए किया जाता है। भय, आश्चर्य, हर्ष, दुःख आदि के प्रकटीकरण में भी ये परसर्ग व्यवहार में लाये जाते हैं। जैसे—हे राम! अरे भैया!

उपर्युक्त परसर्गों के अतिरिक्त कुछ अन्य परसर्ग भी हैं जिनका प्रयोग भाषा में होता है। ऊपर, तक, के साथ, के पीछे, आदि परसर्ग उदाहरण स्वरूप ग्रहण किये जा सकते हैं।

कुछ प्रयोग दृष्टव्य हैं—यहाँ से वहाँ तक, उसके साथ, चौक के आगे, खेल के पीछे, तुम्हारे ऊपर, आदि।

हिन्दी का लिङ्ग-विधान

जिससे किसी वस्तु अथवा व्यक्ति की पहचान होती है, उसकी प्रकृति आकार-प्रकार और विशेषताएँ ज्ञात होती हैं उसे लिङ्ग कहते हैं। वह स्त्री, पुरुष अथवा निर्जीव की कोटियों में से किसी का परिचय कराता है। हिन्दी में दो लिङ्ग हैं—(१) पुल्लिङ्ग (२) स्त्रीलिङ्ग। संस्कृत और प्राकृत में तीन लिङ्ग होते थे किन्तु भाषा वियोगात्मक प्रक्रिया और विदेशी भाषाओं के प्रभाव के कारण हिन्दी में केवल दो लिङ्ग ही प्रयुक्त हुये। संस्कृत और प्राकृत के नपुंसक लिङ्ग वाले शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग-अथवा स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ही मिल गये। इसीलिये हिन्दी में लिङ्ग-निर्धारण की समस्या उठ खड़ी हुई। लिङ्ग-निर्धारण के लिये कुछ नियम बने जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

१. हिन्दी में पुल्लिङ्ग शब्द से ऐसे व्यक्ति अथवा ऐसी वस्तु का बोध होता है जो विशालता, शक्तिमत्ता, गुरुता, भद्दापन और रूक्षता के भाव से युक्त हो। स्त्रीलिङ्ग शब्द से लघुता, दुर्बलता, सौन्दर्य, कोमलता और आकर्षण का भाव व्यक्त होता है। जैसे—

पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
रस्सा	रस्सी
गोला	गोली

२. हिन्दी में आकारान्त शब्द बहुधा पुल्लिङ्ग होते हैं और गुरुता की अभिव्यक्ति करते हैं तथा ईकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं और लघुता व्यक्त करते हैं—

पुल्लिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
छकड़ा	छकड़ी
घोड़ा	घोड़ी
गाड़ा	गाड़ी

३. (अ)—ईकारान्त होना तद्भव और देशज स्त्रीलिङ्ग शब्दों की एक विशेषता है। किन्तु वे हिन्दी तद्भव शब्द जो संस्कृत के इनन्त शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं कर्त्ता कारक वचन में ईकारान्त होते हैं, पुल्लिङ्ग होते हैं—

हस्तिन्	हस्ती	हाथी
मालिन्	माली	माली

(आ) वे तत्सम पुंल्लिग शब्द जिसके अन्त में 'तृ' आता है हिन्दी में ईकारान्त होकर पुल्लिग बनते हैं—

भ्रातृ—भाई, नप्तृ—नाती, जामातृ—जमाई।

(इ) इकारान्त तत्सम पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग शब्दों से व्युत्पन्न हिन्दी तद्भव शब्द 'ईकारान्त' होते हैं और पुल्लिग होते हैं।

दधि—दही, भगिनीपति—बहनोई।

(ई) 'इक', 'इय' और 'ईय' प्रत्यय वाले पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग तत्सम शब्दों के तद्भव ईकारान्त होते हैं। जैसे—

पानीय—पानी, प्रिय—पी, श्रोत्रिय—सोती।

(ए) पुल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग तत्सम शब्दों से व्युत्पन्न शब्द जिनका उपान्त स्वर 'इ' या 'ई' होता है, हिन्दी में 'ईकारान्त' होते हैं। जैसे—

घृतं = घिअं=घी, मौक्तिकं=मोत्तिअ=मोती।

४. ऊकारान्त हिन्दी (तद्भव) शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं। जैसे—

भालू, पेटू, खाऊ, बुद्धू।

५. उकारान्त तत्सम नपुंसक लिङ्ग शब्द, जो हिन्दो में उकारान्त होते हैं प्राय: पुल्लिङ्ग होते हैं—

साधु=साहु।

६. तत्सम आकारान्त शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग बने रहते हैं। जैसे—

चिन्ता, पूजा, कथा।

७. आकारान्त संस्कृत स्त्रीलिङ्ग शब्दों से व्युत्पन्न अकारान्त हिन्दी शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

जिह्वा = जीभ, वार्ता=बात।

८. आकारान्त संस्कृत स्त्रीलिङ्ग शब्दों से व्युत्पन्न अनेक आकारान्त हिन्दी शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

आज्ञा=आग्या, मठिका=मठिया, पट्टिका = पटिया, क्षमा=छमा।

९. 'इया' प्रत्यय वाले अनेक हिन्दी तद्भव शब्द स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत होते हैं। जैसे—रसिक=रसिया, वणिक=बनिया।

१०. अनेक हिन्दी तद्भव शब्द जो ऊकारान्त तत्सम स्त्रीलिङ्ग शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं, स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—वधू = बहू।

११. प्रांय: अकारान्त और आकारान्त हिन्दी पुल्लिङ्ग शब्द ईकारान्त होने पर स्त्रिलिङ्ग बन जाते हैं—नाला=नाली; गधा=गधी; घोड़ा=घोड़ी, चाचा= चाची।

१२. 'इन,' 'इनी,' 'नी' प्रत्ययों से निर्मित हिन्दी स्त्रीलिङ्ग शब्द संस्कृत 'इनी' प्रत्यय वाले शब्दों से व्युत्पन्न हुए हैं। जेसे—हस्तिनी=हथिनी।

१३. ईकारान्त पुलिङ्ग से निर्मित स्त्रीलिङ्ग शब्दों में भी यह रूप दिखाई पड़ता है - धोबी – धोबिन; माली = मालिन।

अन्य पुल्लिङ्ग शब्दों में भी 'इन' प्रत्यय लगता है तो वे शब्द स्त्रीलिङ्ग बनते हैं—सोनार = सोनारिन; चमार = चमारिन, बाघ = बाघिन। 'इन,' 'आनी' अथवा 'आइन' प्रत्ययों से निर्मित स्त्रीलिङ्ग शब्द किसी वर्ग, जाति या पेशे से सम्बद्ध पुरुषों की पत्नियों का ज्ञान कराते हैं—

पण्डित = पण्डितानी, गुरु = गुरुआइन; चोधरी = चौधरानी।

१४. वे भाववाचक संज्ञाएं, जिनके अन्त में पन, पा होता हैं, पुल्लिङ्ग होती हैं—बालकपन, छुटपन, बुढ़ापा, मोटापा।

१५. 'ता' प्रत्यय से बनने वाली भाववाचक संज्ञाऐं स्त्रीलिंग होती हैं— मूरख + ता=मूरखता; सरल + ता = सरलता, सुन्दर + ता=सुन्दरता।

१६. संस्कृत के अधिकांश अकारान्त शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग होते हैं—

नगर, ग्राम, देश, सुख, निवेदन आदि।

१७. आकारान्त संज्ञाएँ स्त्रीलिङ्ग होती हैं—

वेदना, प्रार्थना, याचना, रचना।

१८. उकारान्त संज्ञाएँ प्रायः स्त्रीलिङ्ग होती हैं—

वायु, रेणु, मृत्यु, ऋतु, आयु आदि।

१९. वे तत्सम संज्ञाएँ जिनके अन्त में 'ति' अथवा 'नि' हो हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग होती हैं—

यति, गति, मति, रीति, हानि, ग्लानि।

२०. हिन्दी की इकारान्त तत्सम संज्ञाएँ स्त्रीलिङ्ग होती हैं। जैसे—

निधि, विधि, परिधि, अग्नि, धूलि, राशि।

२१. 'इमा' प्रत्ययान्त तत्सम शब्द स्त्रीवाचक होते हैं—

गरिमा, महिमा, लघिमा, कालिमा आदि।

तद्भव शब्दों का लिङ्ग-निर्णय

(अ) पुल्लिङ्ग शब्द—

१. आकारान्त हिन्दी संज्ञाएँ पुल्लिङ्ग होती हैं—

कपड़ा, पैसा, चमड़ा, आटा।

२. जिन भाववाचक संज्ञाओं के अन्त में 'ना', 'आव', 'पन' अथवा 'पा' होता है, पुल्लिङ्ग होती हैं—

आना, जाना, घटाव, बड़प्पन, बुढ़ापा।

३. कृदन्त 'आनन्त' संज्ञाएँ पुल्लिङ्ग होती हैं—

मिलान, उठान, रुझान, नहान, खान।

(आ) स्त्रीलिङ्ग शब्द—

१. ईकारान्त संज्ञाएँ—चिट्ठी, रोटी, घोड़ी।

अपवाद—पानी, घी, जी, मोती आदि शब्द पुल्लिङ्ग हैं।

२. ऊनवाचक याकारान्त संज्ञाएँ—

खटिया, डिबिया, पुड़िया।

३. तकारान्त संज्ञाएँ—रात, बात, छत, भीत, लात आदि ।

४. अनुस्वारान्त संज्ञाएँ—सरसों, दौं, चूँ आदि ।

अपवाद—गेहूँ, कोदों आदि शब्द पुल्लिङ्ग हैं ।

५. नकारान्त संज्ञाएँ—रहन, सूजन, जलन, उलझन ।

अपवाद—चलन पुल्लिङ्ग है ।

६. अकारान्त कृदन्त संज्ञाएँ—मार, संभाल, समझ, छाप, चमक ।

अपवाद—खेल, नाच, मेल, बिगाड़ आदि ।

७. हिन्दी की वे भाववाचक संज्ञाएँ जिनके अन्त में 'ट', 'वट', 'हट' होता है—सजावट, लिखावट, आहट, झंझट ।

८. हिन्दी की 'खान्त' संज्ञाएँ—भूख, चीख, देख-रेख, राख ।

कुछ अन्य नियम—ग्रह, धातु, अन्न, रत्न, वृक्ष, दिन, मास और द्रव्य तथा द्रव वाचक संज्ञाएँ पुल्लिङ्ग होती हैं । जैसे—

सूर्य, चन्द्र, सोना लोहा, हीरा, नीलम, पीपल, नीम, आम, पानी, घी, जौ, गेहूँ, चना, चैत, वैशाख, सोमवार, मंगलवार आदि ।

अपवाद—ज्वार, मक्का, मटर आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं । पहाड़ों के नाम, कुछ फूलों के नाम, कुल व्यवसायियों के नाम पुल्लिङ्ग होते हैं । जैसे—हिमालय, विन्ध्याचल, कमल, गुलाब, चमार, लुहार, बढ़ई आदि ।

नदियों, तिथियों, कुछ पुस्तकों, लिपियों, कुछ पक्षियों आदि के नाम स्त्रीलिंग में होते हैं । जैसे—गंगा, यमुना, प्रथमा, द्वितीया, रामायण, गीता, कामायनी, देवनागरी, ब्राह्मी, नील, मैना आदि ।

विदेशी शब्द और लिङ्ग-निर्णय

(अ) पुल्लिङ्ग शब्द—उर्दू के माध्यम से आये हुए शब्द—

१. आबान्त शब्द—जवाब, हिसाब, ख्वाब, गुलाब आदि ।

अपवाद—किताब, शराब, मिहराब आदि ।

'२. 'आर' अथवा 'आन' से अन्त होने वाले शब्द—

इनकार, बाजार, सामान, अहसान आदि ।

अपवाद—दुकान, सरकार ।

३. आकारान्त शब्द—किस्सा, हिस्सा, रोजनामचा।

अंग्रेजी के शब्दों का लिङ्ग-निर्णय

हिन्दी और उर्दू शब्दों के लिङ्ग के समान ही अंग्रेजी के पर्यायी शब्दों का लिङ्ग निर्धारित किया जाता है। जैसे—

पीरियड—(घण्टा) पुल्लिङ्ग

हण्टर (डण्डा)— पुल्लिङ्ग

अंग्रेजी के 'टरान्त' शब्द प्रायः पुल्लिङ्ग होते हैं—

मॉनिटर, राइटर, एडिटर, इन्सपेक्टर आदि।

(ब) स्त्रीलिङ्ग शब्द—उर्दू के माध्यम से हिन्दी में आये हुए शब्द—

(१) गरमी, बीमारी, लाचारी।

(२) शकारान्त शब्द—कोशिश, लाश, बारिश, तलाश आदि।

अपवाद—होश, जोश, ताश।

(३) तकारान्त शब्द—इजाजत, कीमत, अदालत आदि।

अपवाद—दरख्त, शरबत आदि।

(४) आकारान्त शब्द—दवा, सजा, रजा आदि।

अपवाद—मजा, दारोगा आदि।

अंग्रेजी से आये हुए शब्द—

पेन्सिल, वाच, लाइब्रेरी, स्ट्रीट आदि।

वाक्य रचना

वाक्य सार्थक शब्दों का वह समूह है जिससे हमारे भाव, इच्छाएँ और विचार व्यक्त होते हैं। वाक्य के दो भाग होते हैं—

१. उद्देश्य २. विधेय।

जिसके विषय में कुछ कहा जाता है उसे उद्देश्य कहते हैं। यह कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त होता है। यदि कर्ता के साथ विशेषण लगा हो तो वह भी उद्देश्य में ही आता है। उद्देश्य के विषय में जो कुछ भी अभिव्यक्त किया जाता है उसे विधेय कहते हैं। विधेय में क्रिया, क्रिया-विशेषण और कर्म आदि आते हैं। उदाहरणार्थ—'महान् व्यक्ति अपने जीवन को प्रतिष्ठित रूप में देखना चाहते हैं।'

उपर्युक्त वाक्य में 'महान् (विशेषण) व्यक्ति' (विशेष्य—कर्त्ता) उद्देश्य और शेष वाक्यांश 'अपने जीवन को प्रतिष्ठित रूप में देखना चाहते हैं' विधेय है।

वाक्य के प्रकार

अर्थ की दृष्टि से वाक्य के आठ प्रकार होते हैं—

१ विधानसूचक—जिस वाक्य से किसी बात का होना जाना जाता है। जैसे—राम पढ़ता है।

२. निषेधवाचक—जिससे किसी वस्तु अथवा कार्य के निषेध की सूचना मिलती है। जैसे— कामायनी नहीं मिली।

३. आज्ञासूचक—जिस वाक्य से आज्ञा, सुझाव, प्रार्थना आदि का ज्ञान होता है। जैसे—(१) कृपया वहाँ से हटिये। (२) मत बोलो। (३) तिक्त भोजन न करो।

४. प्रश्नवाचक—जिस वाक्य से किसी प्रश्न का ज्ञान हो। जैसे—तुम क्या करते हो ?

५. विस्मयादिबोधक—जिस वाक्य से आश्चर्य, हर्ष, दुःख, आकस्मिकता आदि भावों का बोध हो। जैसे—

(१) अहा, पर्वतीय दृश्य कितना सुन्दर लग रहा है !

(२) आह, बेचारा अब क्या करेगा !

६. इच्छाबोधक—जिससे इच्छा का बोध होता है। जैसे—

भगवान् सबका भला करे।

७. सन्देहबोधक—जिससे किसी बात की सम्भावना का बोध होता है। जैसे—चोरी उसी ने की होगी।

८. संकेतार्थक—जिससे किसी संकेत अथवा किसी शर्त का बोध होता है। जैसे—यदि वह कहता तो मैं जाता।

संरचना की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—

१. साधारण वाक्य—जिस वाक्य में एक उद्देश्य और एक विधेय हो। जैसे—वह पढ़ता है।

२. मिश्र वाक्य—जिस वाक्य में एक प्रधान उपवाक्य और शेष आश्रित उपवाक्य हों। आश्रित उपवाक्य के तीन भेद होते हैं—(१) संज्ञा उपवाक्य (२) विशेषण उपवाक्य (३) क्रिया-विशेषण उपवाक्य।

१. संज्ञा उपवाक्य– जो आश्रित उपवाक्य संज्ञा का कार्य करता है संज्ञा उपवाक्य कहलाता है। यह प्रधान उपवाक्य की क्रिया का कर्त्ता, कर्म अथवा पूरक होता है। उदाहरणार्थ—रामू ने कहा कि मैं विद्यालय गया था।

उपर्युक्त वाक्य में 'रामू ने कहा' मुख्य या प्रधान उपवाक्य और 'कि मैं विद्यालय गया था' प्रधान उपवाक्य का आश्रित संज्ञा उपवाक्य है। 'मैं विद्यालय गया था' प्रधान उपवाक्य की क्रिया 'कहा' का कर्म है।

२. विशेषण उपवाक्य—जो उपवाक्य विशेषण का कार्य करे; अर्थात् जो उपवाक्य प्रधान उपवाक्य में प्रयुक्त किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम की विशेषता प्रकट करे। जैसे—जो व्यक्ति यहाँ खड़ा था वह मोहन का भाई है।

उपर्युक्त वाक्य में 'जो व्यक्ति यहाँ खड़ा था' विशेषण उपवाक्य है क्योंकि यह प्रधान उपवाक्य में प्रयुक्त 'वह' की विशेषता प्रकट करता है। विशेषता यह है कि वह मोहन का भाई है।

३. क्रिया-विशेषण उपवाक्य—जो उपवाक्य क्रिया-विशेषण का कार्य करता है; अर्थात् वह प्रधान उपवाक्य की क्रिया की विशेषता बतलाता है उसके द्वारा स्थान, काल, कारण, शर्त, उद्देश्य और पद्धति का बोध होता है। जैसे—जब स्टेशन पर गाड़ी आ गयी तब मैं वहाँ से घर आया।

उपर्युक्त वाक्य में 'जब स्टेशन पर गाड़ी आ गयी' उपवाक्य प्रधान उपवाक्य की क्रिया 'आया' की विशेषता बतलाता है। इसमें काल का संकेत मिलता है।

४. संयुक्त वाक्य—संयुक्त वाक्य में दो या दो से अधिक प्रधान उपवाक्य होते हैं। ये उपवाक्य स्वतंत्र होते हैं। समानपदी उपवाक्यों के अतिरिक्त उन उपवाक्यों से सम्बद्ध आश्रित उपवाक्य भी हो सकते हैं। और, किन्तु, तथा, लेकिन आदि संयोजकों से ये उपवाक्य जुड़े रहते हैं। जैसे मैं घर से आ रहा था और वह घर जा रहा था।

इन उपवाक्यों को 'और' से जोड़ा गया है, साथ ही दोनों उपवाक्य स्वतंत्र हैं।

संक्षिप्त वाक्य

विधान, प्रश्न और उत्तर आदि से सम्बद्ध विचारों को रखने के लिए कभी-कभी लोग संक्षिप्त अभिव्यक्ति का ही आधार लेते हैं। ऐसी स्थिति में वाक्य पूरे-पूरे न लिख-बोल कर लाघव से ही काम चला लेते हैं। जैसे—१—(तुम) पढ़ो। २—(आप) जाइये न।

'देखना,' 'सुनना' और 'कहना' क्रियाओं का जब सामान्य वर्तमान और आसन्न भूत में प्रयोग करते हैं तो कहीं-कहीं कर्त्ता का लोप कर देते हैं। जैसे—१. (लोग) कहते हैं कि रावण बहुत बड़ा विद्वान् था। २. (हम) देखते हैं कि तुम इधर से कैसे जाते हो?

प्रश्न और उत्तर से युक्त सम्वादों में संक्षिप्तता बरती जाती है। जैसे—

राम—क्या (तुम) इन दिनों बाजार भी जाते हो?

श्याम—जी हाँ।

जब एक ही क्रिया के अनेक कर्त्ता होते हैं तब भी संक्षिप्तता बरतने के लिए क्रिया का प्रयोग एक बार ही करते हैं। जैसे—बैल, बकरियाँ, गायें और घोड़े वर्षा से बचने के लिए घर की ओर भाग रहे हैं।

कभी-कभी कर्म, करण और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ लुप्त रहती हैं। जैसे —बात (को) करो। वह बैसाखी के सहारे (से) चलता है। धन्न किस समय (पर) आयेगा?

पद-क्रम

संस्कृत, अरबो, लैटिन और फारसी आदि भाषाओं में शब्दों को किसी भी क्रम में रखें किन्तु उस क्रम की अनिश्चितता के कारण वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हिन्दी, अंग्रेजी और चीनी भाषाओं में पद-क्रम के परिवर्तन से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। इसीलिए अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए इन भाषाओं में पदों के क्रम का निर्धारण कुछ आवश्यक नियमों द्वारा होता है। हिन्दी में क्रमशः कर्त्ता, कर्म और क्रिया के क्रम की व्यवस्था है। विशेषण, क्रिया-विशेषण, संयोजक और अव्ययों की व्यवस्था भी यथा स्थान की जाती है। जहाँ कर्म नहीं होता वहाँ पूरक का प्रचलन है। जैसे—वह भक्त हो गया।

यदि किसी वाक्य के किसी शब्द पर बल देना होता है तो उसका क्रम बदल जाता है और अर्थ में भिन्नता आ जाती है। जैसे—

मैंने बाजार से पुस्तक खरीदी।

उपर्युक्त वाक्य में पुस्तक पर विशेष जोर दिया गया है। अर्थात् और किसी वस्तु का क्रय नहीं किया। इसी तरह यथा स्थान संकेत के लिए बाजार शब्द पर जोर देना होगा तो वाक्य इस प्रकार होगा—

मैंने पुस्तक बाजार से खरीदी।

यदि कर्त्ता पर जोर देना हो तो क्रम बदल जायेगा।

बाजार से पुस्तक मैंने खरीदी। अर्थात् क्रय-कर्त्ता मैं हूँ अन्य कोई नहीं।

वाक्य में पदों के गुण

वाक्य में प्रयुक्त पदों के तीन गुण बतलाये गये हैं—

१. योग्यता २. आकांक्षा ३. आसक्ति।

वाक्य में आये हुए शब्द एक विशिष्ट योग्यता रखते हैं जिससे हम उनको सार्थकता का बोध कर लेते हैं। जैसे –'आग से घर जल गया।' वाक्य से हमें घर के जलने की सही प्रक्रिया ज्ञात हो जाती है। इसके स्थान पर यदि कोई कहे कि 'पानी से घर जल गया' ओ 'आग' के स्थान पर 'पानी' शब्द का प्रयोग योग्यता रहित और निरर्थक होगा।

पद का दूसरा गुण आकांक्षा या इच्छा होता है। अर्थात् वाक्यगत पदों को अर्थनिर्भर होना चाहिए जा पूर्ण अर्थ-बोध कराकर पाठक या श्रोता की आकांक्षाओं की पूर्ण तृप्ति कर सकें। ऐसा न हो कि वाक्य के पूर्णतया सुन लेने के बाद भी जानने के लिए कोई बात अधूरी छूट जाय। जैसे – राम ने रावण को मारा। इस वाक्य के सुनने और पढ़ने से हमें एक पूरी सूचना मिल जाती है। इसे यदि इस प्रकार कहा गया—'राम ने रावण।' तो हमारी आकांक्षा शमित नहीं होगी और वाक्य भी अधूरा रह जायेगा।

आसक्ति का तात्पर्य निकटता से है। वाक्य में व्यवहृत शब्दों को एक दूसरे से इतना निकट रहना चाहिए कि पूरे वाक्य का अर्थ शीघ्रता पूर्वक मालूम किया जा सके। यदि एक शब्द के बाद दूसरा शब्द ५ घण्टे बाद बोला जाय और

आगामी अन्य शब्द भी इसी अनुपात में देर से बोले जायेंगे और उन समस्त शब्दों का समग्र प्रभाव नहीं पड सकेगा। यदि किसी को सूचना देनी है कि 'घर में आग लग गयी' किन्तु कहने वाला 'घर में' कह कर तीन घण्टे चुप रह जाता है और पुनः कहता है 'आग लग गयी' तो एक समय ही पूरी सूचना शीघ्र न मिलने के कारण वाक्य का समग्र प्रभावी अर्थ न मिल सकेगा और सूचना का उद्देश्य नष्ट हो जायेगा।

अन्विति या अन्वय

वाक्य में व्याकरणसम्मत समानरूपता ले आने के लिए अन्विति का आधार लिया जाता है। लिङ्ग, वचन, पुरुष और क्रिया में अन्विति का होना आवश्यक है। जैसे—दस लड़के दौड़ते हैं। इस वाक्य में 'लड़के' शब्द बहुवचन, प्रथम पुरुष, पुलिङ्ग है इसलिए अन्विति के लिए क्रिया भी पुलिङ्ग, बहुवचन और प्रथम पुरुष की प्रयुक्त हुई है। यदि यह कहा जाता कि दस लड़के दौड़ता है तो वाक्य में समरूपता नहीं आ पाती और वाक्य अशुद्ध हो जाता। अन्वय के लिए कुछ विशेष्य पदों के पूर्व विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुरूप ही विशेषण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। पर यह क्रम हिन्दी में सर्वत्र नहीं चलता। उदाहरण के लिए 'अच्छा लड़का', 'अच्छी लड़की', 'बड़ा आदमी', 'बड़ी बात' आदि प्रयोग विशेष्य-विशेषण की अनुरूपता के हैं। किन्तु 'सुन्दर लड़का', 'सुन्दर लड़की' में विशेषण 'सुन्दर' में लिङ्ग सम्बन्धी परिवर्तन नहीं मिलता।

वाक्य दोष

बोलने और लिखने में वाक्य में कुछ दोष आ जाते हैं। ये दोष कई प्रकार के होते हैं—

१. परसर्गों का प्रयोग :— कारक-चिह्नों के प्रयोग जब ठीक-ठीक नहीं किये जाते तो वाक्य दोष युक्त हो जाते हैं। जैसे—

अशुद्ध	शुद्ध
१. मैंने गया।	मैं गया।
२. मैंने कहा हूँ।	मैंने कहा है।

व्याकरणिक अशुद्धि वहाँ भी हो जाती है जब क्रियाओं के लिङ्ग में कर्म अथवा कर्त्ता के अनुसार व्यवस्था नहीं होती। जैसे—

उसने बातें किया। (अशुद्ध)

उसने बातें कीं। (शुद्ध]

कुछ लोग क्रिया के रूप में भी परिवर्तन कर देते हैं और उसमें आञ्चलिकता का प्रभाव आ जाता है। जैसे—

वह लिखता हैगा। (मारवाड़ी प्रयोग)

वह लिखता है। (शुद्ध)

पूर्वकालिक क्रियाओं का प्रयोग भी कहीं-कहीं सन्दर्भ और अर्थ के मर्म को उपेक्षित कर देता है। जैसे—

गीता पढ़ कर उसने मोक्ष पा लिया। (अशुद्ध)

गीता पढ़ने से उसने मोक्ष पा लिया। (शुद्ध)

अथवा गीता पढ़ने से वह मुक्त हो गया। (शुद्ध)

२. क्रम-भङ्ग—जिस किसी वाक्य का क्रम किसी व्यवस्था में आरम्भ होकर उत्तरार्द्ध में भिन्न प्रकार का हो जाता है तो क्रम-भंग-दोष होता है। जैसे—

तुम्हें चाहिये कि कक्षा नियमित रूप से चलती रहे।

उपर्युक्त वाक्य की शुद्ध व्यवस्था इस प्रकार होगी—

तुम्हें चाहिये कि तुम नियमित रूप से कक्षा चलाओ।

३. पुनरुक्ति-दोष—शब्द और अर्थ दोनों से सम्बद्ध पुनरुक्ति दोष होते हैं। जब वाक्य में एक शब्द का जिस सन्दर्भ में प्रयोग हुआ है और ठीक उसी अर्थ का वहन करने वाला दूसरा शब्द भी अनावश्यक रूप से प्रयुक्त होता है तो पुनरुक्ति दोष होता है। दूसरे शब्द का अर्थ-संकेत तो उससे पहले प्रयुक्त किये गये शब्द में हो ही चुका है फिर भी अज्ञान वश लोग उसका दुबारा प्रयोग करते हैं। जैसे—

(१) कृपया हमें पाँच रुपये देने की कृपा करें।

(२) आप यह कार्य कर सकने में समर्थ हैं।

(३) हमें आज आवश्यक वस्तुओं की आवश्यकता है।

४. निरर्थकता—अनुवाद करते समय इस तरह के दोष आ जाते हैं जब अनुवादक उन शब्दों के कोशगत अर्थ के अनुसार प्रयोग कर देता है। जैसे—

(I have no interest in that business) मुझे उस व्यापार से कोई सूद नहीं मिला है।

५. अर्थ की अस्पष्टता—कभी-कभी हम ऐसे वाक्यों का प्रयोग करते हैं कि उनका अर्थ ही अनिश्चित या अस्पष्ट हो जाता है। जैसे—

मुझे आपको पुस्तकें देनी हैं। उपर्युक्त वाक्य में यह स्पष्ट नहीं होता कि पुस्तकें किसको दी जायेंगी ?

६. शब्दों का अशुद्ध क्रम – परम्परानुगत रूप से व्यवहार में आने वाले समस्त शब्दों में विपर्यय कर देने से वाक्य में अशुद्धि आ जाती है। इसके अतिरिक्त दूरान्वय दोष भी वाक्य को भ्रान्तियों से युक्त कर देता है। जैसे—

राजा-प्रजा (शुद्ध); प्रजा-राजा (अशुद्ध); खान-पान (शुद्ध); पान-खान (अशुद्ध); मेरी चार दूध की दूकानें हैं। (अशुद्ध) मेरी दूध की चार दूकानें हैं। (शुद्ध)

७. विरोधपरकता—जब किसी वाक्य में दो विपरीतार्थक शब्दों का प्रयोग होता है तो इस तरह का दोष आ जाता है। जैसे—

वह सम्भवतः वहाँ अवश्य जायेगा।

८. न्यूनपदत्व—जब किसी वाक्य में आवश्यकता से कम शब्दों द्वारा ही अर्थ की अभिव्यक्ति की जाती है तो न्यूनपदत्व दोष होता है। जैसे—

मुझे बताओ कि तुमने पुस्तक पढ़ ली (या नहीं)।

९. अधिकपदत्व—जब आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग होता है तो यह दोष होता है। जैसे—

चाहे तुम आओ और चाहे न आओ।

१०. परोक्षकथन—जब बात को परोक्ष कथन (Indirect speech) की शैली में रखते हैं तो वाक्य में प्रयुक्त कर्त्ता के विषय में भ्रामक बिम्ब निर्मित हो जाता है। जैसे—

मनोहर ने सरस से कहा कि उसे परीक्षा देनी है।

उपर्युक्त वाक्य में 'उसे' के विषय में स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता कि 'उसे' किसके लिये प्रयुक्त हुआ है। पहला अर्थ तो पाठक यह ग्रहण करेंगे कि सरस को परीक्षा देनी है किन्तु परोक्ष कथन की शैली में मनोहर अपने विषय में सरस को बता रहा है कि परीक्षा मनोहर (उसे) को देनी है।

११. बेमेल शब्द-योजना—कभी-कभी दो भाषाओं के शब्दों को एक में जोड़ कर एक अन्य शब्द निर्मित कर लेते हैं। इस नवनिर्मित शब्द में दो भाषाओं और विचारों के संस्कार समाहित हो जाते हैं। जैसे—

(१) जिलाधिकारी (जिला + अधिकारी) ने अर्दली को बुलाया।

(२) उसने अपनी खोजरिपोर्ट पेश कर दी है।

उच्चारण और वर्तनी

हिन्दी की भाषा-ध्वनियों का उच्चारण जिस तरह होता है उसी प्रकार वह लिखी भी जाती है। फिर भी अज्ञानता अथवा वातावरण और देश-काल की भिन्नता के कारण उसकी उच्चरित और लिखित ध्वनि-व्यवस्था में अन्तर आ जाता है। इसके कई कारण हैं। हिन्दी की वर्तनी से सम्बद्ध जो-जो त्रुटियाँ मिलती हैं उनकी दिशाएँ निम्नलिखित हैं—

१. स्वर रहित 'स्' का प्रयोग—जब शब्द के आदि में व्यञ्जन युक्त 'स्' का प्रयोग होता है तो उच्चारण-सौंकर्य के लिए 'स्' के पूर्व अथवा बाद में स्वर लगा देते हैं।

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
स्थिर	इस्थिर	स्टेशन	इस्टेशन
स्थान	अस्थान	स्कूल	इस्कूल
स्तुति	अस्तुति	स्माल	इस्माल
स्त्री	इस्त्री	स्पॉट	इस्पॉट
		स्नो	इस्नो

२. तालव्य 'श' और मूर्द्धन्य 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है जो अनुचित है। जैसे—



शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
पशु	पसु	महेश	महेस
श्वशुर	श्वसुर	होश	होस

३. कभी-कभी 'स' की जगह 'श' का प्रयोग होता है। जैसे—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
स्रोत	श्रोत	सरल	शरल
प्रसाद	प्रशाद	सरिता	शरिता

४. कभी-कभी 'श' और 'स' ध्वनियों का विपर्यय हो जाता है। जैसे—

शुद्ध	अशुद्ध
प्रशंसा	प्रसंशा
संशय	शंसय

५. 'क्ष' का प्रचलन 'छ' के रूप में होता है—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
क्षत्रिय	छत्री	क्षोभ	छोभ
परीक्षा	परीच्छा	भिक्षा	भिच्छा

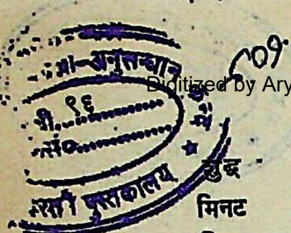
६. 'छ' के स्थान पर 'क्ष' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
छात्र	क्षात्र	इच्छा	इक्षा
छत्रपति	क्षत्रपति		

७. 'ऋ' के स्थान पर 'रि' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
ऋषि	रिषि	ऋण	रिण
ऋद्ध	रिद्ध	ऋतम्भरा	रितम्भरा

८. पंजाबी लोग अनवरत तीन लघु वर्णों का उच्चारण न करके मध्यवर्ती अक्षर को व्यञ्जन के रूप में ही उच्चरित करते हैं। जैसे—



शुद्ध	अशुद्ध
मिनट	मिन्ट
विमल	विम्ल

हिन्दी खड़ी बोली के उत्तरवर्ती भागों में रहने वाले लोग तथा पंजाबी लोग प्रायः घ, झ, ढ, ध, भ आदि महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण ग, ज, ड, द, ब के रूप में करते हैं। जैसे—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
झूठ	झूट	धंधा	धंदा

९. कुछ लोग नाम, जाति, संस्था आदि से सम्बद्ध हिन्दी शब्दों को अंग्रेजी वर्तनी के अनुसार उच्चरित करते हैं। जैसे—Mishra, Gupta, Shrivastava, Yadava आदि मिश्रा, गुप्ता, श्रीवास्तवा और यादवा हो जाते हैं।

वर्तनी

१. अधिकांश लोग अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु नहीं लगाते जिससे त्रुटियाँ होती हैं। जैसे—'हैं' का 'है', 'में' का 'मे' और 'कहीं' का 'कही' हो जाता है।

२. अनुनासिक और अनुस्वार में अन्तर न कर पाने के कारण अथवा सुविधा बरतने के लिए अनुनासिक के स्थान पर चन्द्रबिन्दु या अनुस्वार लगाने की प्रथा चल पड़ी है। जैसे—अङ्क = अंक, पञ्च = पंच, पण्डित = पंडित, दण्ड = दंड, अन्त = अंत, अम्बर = अंबर।

३. हिन्दी की 'ड़' और 'ढ़' तथा अरबी और फारसी की संघर्षी ध्वनियों के नीचे बिन्दु (नुक्ता) न लगाकर ही काम चला लिया जाता है। इससे शब्दों के अर्थ ही बदल जाते हैं। ऐसी गल्तियाँ बहुत अधिक की जा रही हैं। जैसे—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
लड़ाई	लडाई	काग़ज	कागज
लड़ना	लडना	ग़रीब	गरीब
पड़ना	पडना	तरीक़ा	तरीका
पढ़ो	पढो	क़ाज़ी	काजी
गढ़	गढ	आज़मगढ़	आजमगढ़
		ज़ंग (मोर्चा)	जंग

४. 'ब' के स्थान पर 'व' और 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग--

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
बड़ा	वड़ा	जवाब	जबाव
बालक	वालक	बेवस	बेबस
बात	वात	वाह्य (ढोने योग्य)	बाह्य
बासी भोजन	वासी भोजन	वानप्रस्थ	बानप्रस्थ

५. अक्षर-लोप--

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
उपलक्ष्य	उपलक्ष	व्यंग्य	व्यंग
पाण्डेय	पाण्डे	अध्ययन	अध्यन

६. 'न्' 'म्' और 'ल्' ध्वनियों का विपर्यय---

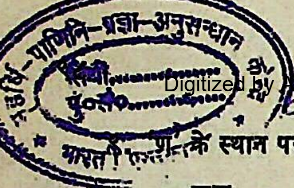
शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
चिह्न	चिन्ह	ब्रह्म, ब्रह्मा	ब्रम्ह, ब्रम्हा, (बर्म्हा)
अपराह्न	अपरान्ह	जिह्म	जिम्ह
जाह्नवी	जान्हवी	ब्राह्मण	ब्राम्हण
बाह्लीक	बाल्हीक	वह्नि	वन्हि
आह्लाद	आल्हाद		

७. कभी-कभी अक्षरों में भी विपर्यय (विपर्यास या व्यत्यय) होता है।

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
मेहनत	मेनहत	मतलब	मतबल
अमरूद	अरमूद	लखनऊ	नखलऊ
ईख	ऊख	अँगुली	उँगली

८. 'ज्ञ' के स्थान पर 'ग्य' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
ज्ञाता	ग्याता	जिज्ञासा	जिग्यासा
आज्ञा	आग्या	अभिज्ञ	अभिग्य
अज्ञेय	अग्येय	प्रज्ञा	प्रग्या



ण' के स्थान पर 'ड़' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
गणित	गड़ित	गुण	गुड़
टिप्पणी	टिप्पड़ी	गणना	गड़ना
गणेश	गड़ेश	कण	कड़

१०. संस्कृत शब्दों का अशुद्ध प्रयोग

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
अहल्या	अहिल्या	रचयिता	रचइता
तृतीय	त्रितीय	नवरात्र	नवरात्रि
अनुगृहीत	अनुग्रहीत	सर्जन	सृजन
नरक	नर्क	अहर्निश	अहर्निशि

११. रेफ को परवर्ती अक्षर पर न लगाकर पूर्ववर्ती अक्षर पर लगाना—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
प्रादुर्भाव	प्रार्दुभाव	जनार्दन	जर्नादन
परामर्श	परार्मश	कृपाचार्य	कृपार्चाय

१२. 'य' श्रुति के स्थान पर विभिन्न स्वरों का प्रयोग होता है। इससे एकरूपता नष्ट हो जाती है। जैसे—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
विजयी	विजई	गयी, गये	गई, गए
नयी	नई	आयी, आये	आई, आए
नायिका	नाइका	सञ्चयी	सञ्चई

१३. द्वित्व वर्णों के प्रयोग में उदासीनता—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
उज्ज्वल	उज्वल	उल्लङ्घन	उलंघन
सम्पत्ति	सम्पति	उद्दण्ड	उदंड

१४. दीर्घ 'ऊ', दीर्घ 'ई' के स्थान पर क्रमशः ह्रस्व 'उ' और ह्रस्व 'इ' का प्रयोग और ह्रस्व 'उ', ह्रस्व 'इ' के स्थान पर दीर्घ 'ऊ' और दीर्घ 'ई' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
रूप	रुप	मधु	मधू
फूल	फुल	उषा	ऊषा
शूर	शुर	रुपया	रूपया
नदी	नदि	गुरु	गुरू
सही	सहि	कवि	कवी
भाई	भाइ	मति	मती
		प्रति	प्रती

१५. पदों में त्रुटिपूर्ण सन्धि-प्रक्रिया—

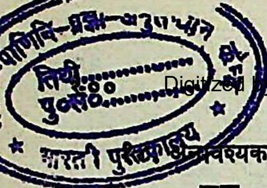
शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
जगन्नाथ	जगत्नाथ	तदुपरान्त	तदोपरान्त
निष्कपट	निस्कपट	मनोहर	मनहर
शरदुत्सव	शरदोत्सव	उपर्युक्त	उपरोक्त

१६. त्रुटिपूर्ण समस्त पदों का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
कालिदास	कालीदास	योगिराज	योगीराज
विद्यार्थिवर्ग	विद्यार्थीवर्ग	हर एक	हरेक
मन्त्रिपद	मन्त्रीपद	पक्षिगण	पक्षीगण

१७. हलन्त युक्त तत्सम शब्दों के हलन्त की उपेक्षा—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
महान्	महान	परिषद्	परिषद
भगवान्	भगवान्	विराट्	विराट
बुद्धिमान्	बुद्धिमान	यथावत्	यथावत
महत्	महत	भविष्यत्	भविष्यत



अनावश्यक रूप से हलन्त का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
नवम	नवम्	शुभागमन	शुभागमन्
विद्यमान	विद्यमान्	पञ्चम	पञ्चम्
षष्ठ	षष्ठम्, षष्टम		

१९. कुछ लोग 'सहस्र' को 'सहस्त्र' के रूप में लिखते है।

यह प्रयोग गलत है। इसी तरह 'शृंगार' शब्द 'श्रृंगार' के रूप में लिखा जाता है। 'श्रृंगार' तो 'शृ' ध्वनि के टाइपों के अभाव में प्राय. पुस्तकों में छप कर व्यवहार में आने लगा है। यदि 'र' को किसी व्यञ्जन के बाद संयुक्त करते हैं तो उसके दो रूप देखने में आते हैं।

(१) खड़ी पाई से अन्त होने वाले अक्षरों के अन्त में यह एक तिर्यक् लकीर के रूप में नीचे लगा दिया जाता है। जैसे—वक्र, तक्र, शक्र, मद्रास आदि।

(२) अक्षर के नीचे शंक्वाकार (^) लकीर के रूप में 'र' जुटता है। जैसे राष्ट्र, पौण्ड्र आदि। कुछ लोग शंक्वाकार लकीर का प्रयोग न करके एक लकीर का ही प्रयोग कर देते हैं जो गलत है। जैसे महाराष्ट्र, उष्ट्र आदि।

२०. 'ट' के स्थान पर 'ठ' और 'ठ' के स्थान पर 'ट' का प्रयोग—

शुद्ध	अशुद्ध	शुद्ध	अशुद्ध
श्रेष्ठ	श्रेष्ट	यथेष्ट	यथेष्ठ
निष्ठा	निष्टा	श्लिष्ट	श्लिष्ठ
कनिष्ठ	कनिष्ट	पुष्ट	पुष्ठ

२१. 'त्' से अन्त होने वाले शब्दों से भाववाची संज्ञा बनाने में भी कुछ लोग द्वित्व 'त्त' का प्रयोग नहीं करते। जैसे—

महत्ता, सत्ता, महत्त्व, सत्त्व आदि के स्थान पर महता, सता, महत्व, सत्व आदि का प्रयोग होता है।

भाषाशास्त्र सम्बन्धी अन्य पुस्तकें

हिन्दी भाषा और लिपि का ऐतिहासिक विकास	डॉ० सत्यनारायण त्रिपाठी	६-००
भाषाशास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा	डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	१५-००
हिन्दी भाषा विज्ञान एवं भाषाशास्त्र	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी	२०-००
हिन्दी व्याकरण तथा रचना	पं० रमापति शुक्ला	३-००
व्यावहारिक हिन्दी	,,	३-००
हिन्दी का सांस्कृतिक परिवेश	डॉ० लालजी सिंह	२०-००
बेगूसराय की बोली	डॉ० अवधेशकुमार सिंह	१२-००
बीजक का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० शुकदेव सिंह	२०-००

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी